शरवद्ध्वनि

# शंखध्वनि

सुमित्रानदन पत





राजकमल प्रकाशन

पटना ६ दिल्ली-६

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०
दरियागंज दिल्ली ६

●

कापीराइट
सुमित्रानन्दन पंत

●

प्रथम संस्करण
१९७१

●

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

●

आवरण
[illegible] दिल्ली

मूल्य १५.०० रु०

मित्रवर
ई० चेलिशेव को
सस्नेह

# भूमिका

शंखध्वनि के अन्तर्गत मेरी इधर की नवीन रचनाएँ संगृहीत हैं। इन रचनाओं में मुख्यतः नये जागरण के स्वरों को तथा विश्व जीवन के भीतर उदय हो रहे नये मनुष्यत्व की रूपरेखाओं को अभिव्यक्ति मिली है। कुछ रचनाओं में वर्तमान युग जीवन की विसंगतियों के प्रति मेरे मन की प्रतिक्रियाएँ तथा कुछ में मेरे व्यक्तिगत सुख दुख की अनुगूँजों को भी वाणी मिली है।

यह संग्रह मैंने मित्रवर ई० चेलिशेव को समर्पित किया है। अपनी पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत—तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परंपरा और नवीनता' में उन्होंने मेरे काव्य का जिस आंतरिक सहानुभूति के साथ गंभीर आलोचनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया है उसके लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ। हिन्दी के प्रगतिशील आलोचकों की तुलना में उनकी दृष्टि अधिक व्यापक, गंभीर तथा सारग्राही पाई जाती है। उन्होंने भारतीय जीवन संघर्ष के संदर्भ में प्रगतिशीलता को जिस रूप में परिभाषित किया है और विदेशी होने पर भी भारतीय जागरण के आह्वान को जिस प्रकार समझने की चेष्टा की है वह उनकी अंतर्दृष्टि तथा प्रतिभा का परिचायक है। यदि वे मेरी नवीन चेतनामूलक सांस्कृतिक रचनाओं का—जिन्हें आध्यात्मिक रचनाएँ भी कहा जाता है—यथोचित मूल्यांकन नहीं कर सके तो मैं इसे उनकी सीमा न कहकर मार्क्सवाद ही की सीमा कहूँगा, जिससे उनका मूल्यांकन एवं विचारात्मक दृष्टिकोण अनुप्राणित रहा है, एवं जिस वातावरण में उनके जीवन तथा मन का निर्माण हुआ है।

मार्क्सवाद में चेतना तथा पदार्थ अथवा आंतर तथा वस्तुगत दृष्टिकोणों के संबंध में वहीं से एक प्रकार का उलझाव पैदा हो जाता है जहाँ से मार्क्स हीगेल के सिर के बल खड़े दर्शन को पैरों के बल खड़ा करना चाहते हैं। इसस तथ का पश्चिमी आत्मवाद—जो हीगेल में शिखर पर पहुँचा मिलता है—भले ही पैरों के बल खड़ा हो सका हो पर भारतीय चैतन्यमूलक दृष्टिबिंदु में—जो 'पद्भ्यां पृथ्वी' के अनुरूप सदैव ही पैरों के बल खड़ा रहा है—वाद सैद्धांतिक या व्यावहारिक आधार उपस्थित नहीं होता। भारत में जीवन बोध तथा नैतिक सांस्कृतिक मान्यताएँ परिस्थितियों के अधीन न रह कर सदैव ही उनसे ऊपर आत्मबोध की व्यापक दृष्टि से अनुप्राणित रही हैं। भारतीय संस्कृति में जीवन मूल्य चाहे वे व्यक्तिगत हों या सामाजिक मानवीय मूल्यों के आश्रित रहे हैं और वे मानवीय मूल्य निरंतर आध्यात्मिक आंतर मूल्यों पर आधारित रहे हैं।

मूल्य संबंधी इन जटिल एवं गूढ़ समस्याओं को तर्कों के आधार पर सुलझाने

की चर्चा करना व्यर्थ है। आगामी कुछ दशकों के भीतर विश्व जीवन जो दिशा ग्रहण करेगा उसकी वास्तविक अनुभूति ही मूल्य संबंधी इस भ्रांति का निराकरण कर सकेगी। इस युग का मूल्यांकन-अथवा परीक्षण के लिए भी अनेक दृष्टियों से निर्णायक होगा। तभी मेरी रचनाओं में इस भावात्मक संघर्ष के यथार्थ चित्रण का मूल्यांकन का समय हो सकेगा। यह सब मैं इसलिए लिखना चाह रहा है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर आधारित आलोचना का मेरी पिछले तीन चार दशकों की रचनाओं से विशेष सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध में उत्तरा की भूमिका में भी मैं विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत कर चुका हूँ।

मार्क्सवाद केवल मनुष्य के ऐतिहासिक विकास को ही उसका सम्पूर्ण विकास मानता है और उसमें भी उसके ऐतिहासिक भौतिक विकास को जिस पर उसके अनुसार मानवीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्था की श्रेणी निर्भर रहती है। मेरी दृष्टि में ऐतिहासिक विकास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्व इस युग का प्रमुख संचरण होते हुए भी मनुष्य के समन्वित तथा सांगिवाचर विकास ही का द्योतक है। सर्वांगीण मानवीय मूल्यों के विकास के लिए अन्य प्रकार के उतने ही महत्त्वपूर्ण ऊर्ध्व-दृष्टि उच्च संचरण भी आवश्यक है।

जिस प्रकार मध्ययुगीन भारतीय अध्यात्म जीवन के अन्य स्तरों की उपेक्षा कर, आध्यात्मिक विकास को ही मानव विकास का सर्वोपरि लक्ष्य मानता रहा उसी प्रकार ऐतिहासिक भौतिकवाद सामूहिक भौतिक उन्नयन को ही मानव विकास का चरम लक्ष्य मानता है। भले ही भौतिक समृद्धि की आवश्यकता इस वैज्ञानिक युग में विकासोन्मुख देशों के लिए गौण नहीं समझी जा सकती हो पर है यह एकांगी दृष्टि ही। मध्ययुगों के चिन्तकों ने ऐतिहासिक संचरण एवं ऐतिहासिक क्रम की उपेक्षा कर विचारों भावों को इन्द्रियों से आत्मा को देह से तथा आध्यात्मिकता को भौतिकता से वियुक्त कर दिया था वर्तमान युग भी भौतिकता को अध्यात्म से इंद्रिय जीवन को आंतर मूल्यों से तथा देह को आत्मा या पदार्थ को चेतना से विच्छिन्न करने का प्रयत्न करता है। मूलगत दार्शनिक दृष्टियों की इस एकांगिता का समाधान केवल तर्कबुद्धि के बल पर नहीं किया जा सकता वे काल की कसौटी में कभी जाने पर ही समग्र रूप से परखी जा सकती हैं।

यह निर्विवाद है कि वैज्ञानिक उपलब्धियों के इस युग में जन समूह के ऐतिहासिक विकास तथा ऐतिहासिक क्रम का सिद्धान्त अत्यधिक महत्त्व रखता है। क्योंकि इतिहास ही मनुष्य का निर्माता नहीं (हीगल) जीवित शिक्षित जन-समाज भी इतिहास का निर्माता है (मार्क्स)। शिक्षक को शिक्षित तथा शिक्षित को शिक्षक बनना होता है। इस दृष्टि से क्रांति का भी इस युग में अपना महत्व है।

किन्तु विश्व सभ्यता तथा निज जीवन अब जिस मोड़ पर पहुँच रहे हैं उसमें मानवीय विकास के लिए दोनों गुणात्मक तथा गतिवाचक वैयक्तिक तथा सामूहिक दृष्टियों की मिलन अनिवार्य प्रतीत होती है जो दृष्टियाँ अभी अर्ध सत्य ही की वाना पहने हुई हैं।

भारतीय अन्तर्दृष्टि अथवा औपनिषदिक दृष्टि हीगल के आत्मवाद—जो पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन का शिखर है और जो इतिहास की भी एक प्रकार से उपेक्षा नहीं करता—तथा मार्क्स के भौतिकवाद एवं इतिहास संबंधी दृष्टिकोण—दोनों को ही अतिक्रम कर मनुष्यत्व की पूर्णता एवं मनुष्य समाज के सर्वांगीण विकास के लिए सर्वाधि के उच्चतर अंतरिक्षों के सूक्ष्मतम ऐश्वर्यों की ओर भी ध्यान आकर्षित करती है जहाँ किसी प्रकार की एकांगिता के लिए स्थान नहीं रहता और जो संपूर्ण मानव जीवन के विकास का लक्ष्य है। आज की शब्दावली में, मनुष्य अतल न पूँजीवादी व्यक्ति की इकाई है न ऐतिहासिक भौतिकवादी समूह की इकाई। वह उस पूर्ण चैतन्य की इकाई है व्यक्ति और समाज तथा उन दोनों का विकास जिसके अविच्छिन्न अंग हैं। मनुष्य-जीवन संबंधी ऐसे सर्वांगीण तात्विक सत्यों को बूर्ज्वा विचारों के साथ प्रतिक्रियावादी कूड़े की टोकरी में डालने का प्रयत्न कर हम उनके प्रति केवल अपने अज्ञान का ही प्रदर्शन करते हैं।

मुझे पश्चिम के उन आधुनिकतम दार्शनिकों का चिन्तन-दर्शन भी अधूरा प्रतीत होता है जिन्होंने ऐतिहासिक क्रम की महत्ता को भुला दिया है और जिनमें पाजीटिविस्टस स्टक्च्युरलिस्टस ग्विजनिस्टस एक्जिस्टेनशियलिस्टस आदि रूडाल्फ स्टेनर से प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित, सभी प्रकार के मध्यवर्गीय विचारक तथा बौद्धिक सम्मिलित हैं। ऐतिहासिक विकास क्रम अत्यंत आवश्यक है पर ऐतिहासिक संचरण ही को मानव विकास के समग्र सत्य का दर्पण नहीं माना जा सकता वह केवल मानव विकास के लिए सामूहिक पीठिका भर प्रस्तुत करता है।

भारतीय चैतन्य संबंधी दृष्टिकोण अभी अछूता ही है वह अभी पश्चिमी सभ्यता तथा वैज्ञानिक युग की कसौटी में नहीं कसा जा सका है। अभी तो हीगल के आदर्शवाद तथा मार्क्स-एंगिल्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का ही युग के जीवन तथा विचार जगत में संघर्ष चल रहा है। अब संसार के देश जब परस्पर निकट आकर एक पूर्ण संयोजित विश्व जीवन तथा मानव संस्कृति का निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे हैं और भौतिकवाद अपनी अति स्पर्धा के कारण ध्वंसात्मक तथा अनियन्त्रितता के कारण सहज मानवीय विकास का बाधक बनता जा रहा है, भारतीय चैतन्य संबंधी मांगलिक दृष्टि निकट भविष्य में बहुजन हिताय बहुजन सुखाय, विश्व जीवन में ...

अवतरित होकर उसका अविभाज्य एवं अभिन्न अंग बन सकेगी। आज के मयकर विश्व विनाशकारी ध्वसास्त्र इसी सभावना की ओर इगित करते हैं। सत्य अहिंसा के प्रतीक मूल्यों का उन्नय भी जो भविष्य में विश्व जीवन के स्तर पर सार्थकता प्राप्त कर सकेगा—इसी की सपुष्टि करता है।

मित्रवर चेलिशेव को मेरी रचनाओं में अभिव्यक्त आदर्श और यथार्थ का समन्वय असंभव प्रतीत होता है। पर मैं देखता हूँ कि आज के महान संक्रांति के युग में विश्व जीवन धीरे धीरे ऐसा महत् संयोजन की ओर अग्रसर हो रहा है आगामी दशकों में यह प्रवृत्ति और भी स्पष्ट हो जाएगी। वस भारतीय दृष्टि में यह समन्वय कोई नयी वस्तु नहीं है। सभी महान विचारक और कवि विभिन्न युगों में इस प्रकार के सांस्कृतिक समन्वय की ओर प्रेरित हुए हैं। तुलसी और कबीर के युग भी इसी के उदाहरण हैं। आदर्श और यथार्थ एक ही सत्य के दो पक्ष एक ही मुद्रा के दो मुख हैं। जिस प्रकार कली स्वभावत फूल में विकसित होती है उसी प्रकार यथार्थ का आदर्श में परिणत होना होता है। जो सबंध एक प्रबुद्ध संतुलित समाज में वर्तमान का भविष्य से होता है वही यथार्थ का आदर्श से भी है। ऐतिहासिक यथार्थ का संचरण भी जो जीवित दीक्षित व्यक्तियों द्वारा संचालित होता है लक्ष्योन्मुख अथवा आदर्शोन्मुख ही होता है।

फिर भी डा० चेलिशेव की पुस्तक में सब मिलाकर मेरी रचनाओं को समझने में पाठकों को अधिक सहायता मिलेगी। हमारे प्रगतिशील आलोचकों को मेरी रचनाओं का समस्त भावदर्शन जो केवल प्रतिक्रियात्मक ही दिखाई देता है उसका बहुत बड़ा भाग मि० चेलिशेव को भारतीय जीवन सघर्ष के संदर्भ में प्रगतिशील प्रतीत होता है। मेरा भाव दर्शन मार्क्सवाद का खंडन न कर उसकी पूर्ति करता है और मेरे काव्य में उस पूर्ति का रूप मेरी चेतनात्मक रचनाओं में मिलता है। इन रचनाओं के सबंध में चेलिशेव के दृष्टिकोण की दुहाई देकर हिन्दी के कुछ प्रगतिशील ताता पंडितों ने उनके प्रतिक्रियात्मक होने की दुदुभी नए सिर से पीटना शुरू कर दी है। त्रैमासिक आलोचना के १३वें अंक में लेनिन जन्म शती का एक आलोचनात्मक उपहार शीर्षक लेख इसका एक उदाहरण है।

यद्यपि प्रस्तुत संग्रह की रचनाओं का चेलिशेव की पुस्तक से कोई सीधा सबंध नहीं है फिर भी उनके दृष्टिकोण के सबंध में अपने विचार प्रकट कर उनकी व्यापक सवेदनापूर्ण दृष्टि के लिए उन्हें धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

१८।बी ७ के जी मार्ग इलाहाबाद
२५ १२ ७०

—सुमित्रानदन पत

## सूची

●●

वह अनगढ़ पाषाण खंड था—

मैंने तपकर, खँटकर,
भीतर कहीं सिमट कर,

उसका रूप निखारा,
तद्वत् भाव उतारा,
शशिमुख का
सौंदर्य सँवारा!

लोग उसे
निज मुख बतलाते,
देख देख कर नहीं अघाते,—

वह तो प्रेम,
तुम्हारा श्रीमुख
तन्मय अंतर को देता सुख!

१९७१

भूप मुकुट बीसवीं शती के बन दिग् भास्वर
आओ हे नव वर्ष, अवतरण करो धरा पर।
खोलो निवसित राष्ट्रों के जड़ता के बंधन,
मनुष्यतर में जो जन भू पर सब से निर्धन।
दानवीय ध्वंसास्त्रों का कर जो नित संचय
वैज्ञानिक कौशल का करते घोर अपव्यय।

तोड़ो कटु शृंखला दैन्य जर्जर भूजन की,
सुलभ न जिनको सुविधा अन्न वसन आंगन की।
प्राप्त नहीं शिक्षा संस्कृति के साधन विकसित—
क्षुधित अविकसित देश तुम्हारे प्रति आशान्वित।

सृजन शंख फूंको हे, अंतस्वर से मुखरित,
नव जीवन उन्मेषों से जन-मन हो प्रेरित।
शांत धरा देशों के हों स्पर्धा-संघर्षण,
राग-द्वेष के भरें हृदय के रक्त स्रवित व्रण।

काल दूत, विज्ञान ज्ञान में भरो संतुलन,
नयी चेतना का प्रतीक हो जन भू प्रांगण।

## देवोत्थान

जगती में
हम मानव में
दानव को करते आए
अभिप्रेरित!

गहन मनोवैज्ञानिक स्तर पर
पशु प्रवृत्तियों को
जन जन के जीवन मन में
करते आए स्थापित!

अगले कई दशक संभवत
बीतेंगे अब
देवों में फिर
मानव अंतर को करने में मंडित—
मानवीय जीवन को
भावी धरा स्वर्ग में
करने पूर्ण प्रतिष्ठित!

कितना कार्य अभी करना है—
सोच सोच कर
विस्मय से अभिभूत कभी
हो उठता अंतर!
सुंदर बाह्य प्रकृति जग,—
इससे भी सुंदरतर
मानव का अंतर्जग—
मर्म विभव से भास्वर!

अंतर्मुख हो हमें योजना
आत्मिक वैभव—
उसे अवतरित करना
भू जीवन में अभिनव!

उर में अंतर्हित
शोभा के भुवन अगोचर
इंद्रलोक की संपद् भी
जिन पर न्योछावर!

इंद्रचाप पुल पर चलती
अप्सरा मनोहर
सृजन चेतना नभ में
स्वप्निल नूपुर ध्वनि कर!

मूक अचेतन उपचेतन
लोकों के गह्वर
जाग गह्न तंद्रा से
मन में भरते मर्मर!

देवों का हो स्वर्ग महत्—
पर जन धरणी पर
रचना हमको मानवीय
नव स्वर्ग महत्तर—

मन के पशु को,
दानव को कर शन उन्नमित—
आओ, भूजन,
करें विश्व जीवन नव निर्मित!

## संक्राति

पीले पत्तो में लपेट दी तुमने पांडुर
विश्व प्रकृति की देह—धूल से सँजो क्षितिज मुख।
मुक्त दिगंबर अंतरिक्ष दिखता चिन्तन रत,
सुंदर लगता मौन दृश्य संहार सृजन का।

यह शिव का हो महा श्मशान—शून्य, भस्मावृत,
जहां जगत-जीवन लेता नव जन्म निरंतर—
वरद अष्टभुज तत्वों की पावन छाया में।
गर्भित विश्व प्रकृति—भावी की स्वर्णिम कोंपल
जाग रही स्वप्निल तंद्रा से, युग चेतन हो।

मानव के अंतजग में भी गूढ अगोचर
महा क्रांति अब मची हुई—चेतना विटप में
नग्न ह्रास विघटन का पतझर छाया दारुण।
अब बुध में देख न पाती मन की आँखें—
अंधकार हो भावमूल्य बनता जाता अब।

मृत्यु त्रास संशय-हिम जर्जर, आस्था विरहित
देख न पाते लोग ओट में दिग् विनाश की
नया मनुज ले रहा जन्म अब नये विश्व में।

## चाँद

मुझे नहीं अच्छा लगता कि चाँद में जाकर
चंद्र पटल का स्वाद, क्रूर भू मानव नोचे
शशि का चाँदी के दर्पण सा हँसमुख आनन —
घायल कर उसका कोमल उर लौह नखों से।

आज पूर्णिमा का, सरोज सा फुल्ल सुधाकर
कितना सुंदर लगता राजहंस सा तिरता
रजत नील सलिला में—स्वप्नों के सुरधन पर
खोले स्वर्णिम अंतरिक्ष की शरद विभा में।
संभव, दूरी के कारण ही, उसके विक्षत
गौर अंग में लगी खरोंच नहीं दिखती हो।

वह स्वर्गिक सौंदर्य कलश सा, उसी भाव से
स्नेह सुधा रस वृष्टि कर रहा भू-अंचल में,—
भूला रक्तप्रिय बर्बर नर के उत्पातों को।—
जो धरती को दैन्य दुख का नरक बना अब
चंद्र लोक में नीड बसाने का साहस कर
स्पर्धा का अभियान वहाँ ले जाता गर्वित।

## अति यांत्रिकता

निर्मल अब आकाश। घन दिग् ज्योति स्नात सी
सुंदर लगती। बीत गए झड़ झंझा के दिन।
निखर उठी अब सृष्टि सद्य जन्मे नव शिशु सी।
शांत समीरण—श्वास रोक एकाग्र समाधित।
पत्र अकंपित, नम्र क्षितिज, हरिताभ धुले तरु—
ऐसा उज्वल स्पर्श विश्व का मिला न पहिले।
संभव, आँधी पानी दुर्दिन में पीड़ित जग
ऐसी सौम्य पवित्र मन स्थिति अनुभव करता।

वर्तमान झड़ अंधड़ तूफानों का युग भी
रौंद रहा अब मनुज जगत् को—अपनी यांत्रिक
लौह भयंकरता में—ध्वंसात्मक टापों से।
अट्टहास करता कंकाल खड़ा यंत्रों का।
परिवर्तित हो रही पीठिका—भू जीवन की—
उद्वेलित चेतना।—चतुर्दिक् उथल पुथल सी
मचती जाती,—जड़ यांत्रिकता का आडंबर
बढ़ता जाता। सिमट रहा जन जगत् विवश हो,
सर्पों की ऐंठी रस्सी सा। देश विषैले
पाशों में कसते जाते हैं, भौतिकता के
जड़ विद्युत् दंशों से प्रेरित।—कहाँ आज जग,
किधर मनुजता, क्या ध्रुव लक्ष्य।—न समझ पा रहा
मनुज बुद्धि हत। दानव-से सगर्व यंत्र ही
संचालित कर पाएँगे संभव भविष्य में
मनुज नियति को जग जीवन को। स्वयं मनुज
बन रहा यंत्र प्राविधिक तंत्र कौशल में दीक्षित।

प्यूटर ही कप्यूटर अब रह जाएँग  
कल ने जड जग में—विस्थापित कर मनुष्य को।  
वही सिन्धु आदोलित, जटिल, परस्पर गुम्फित  
महत विश्व जीवन को स्यात धरें सुव्यवस्थित—  
बहिर्भ्रांत नर कृमि सा रेंगेगा तब भू पर।

या सभव नर आत्म-बोध म अभिप्रेरित हो  
अध धुध मे उस यत्र युग की झझा के,  
विचरण करे नए क्षितिजो की निमलता में  
यान्त्रिकता के धूमो मे उन्मुक्त विश्व में  
मनुष्यत्व को यत्रो के ऊपर स्थापित कर।  
और तडित अणु के अश्वो की रश्मि खीचकर  
खोजे अतर्मुख जीवन-सौदय शाति सुख।

किंतु, एक अज्ञेय सत्य जो व्याप्त चतुर्दिक्
मिलता मुझे निसर्ग जगत् में,—अभिव्यक्त सभवत
नहीं हुआ मनुष्य में! वह है भूमा का विराट्
सौंदर्य अनामय! जो पावन स्पर्शों से छूकर
मनुज प्रकृति को तीर्थ स्नात, तन्मय, अंतर्केंद्रित
कर देता—निज असीमता की पवित्रता में
सद्य स्मित!—वही शुभ्र सौंदर्य मुझे
करता आकर्षित,—मौन समाधित।
सभव, इस सामूहिक सस्कारों के युग में
उस विराट्ता से वचित न रहे मानव जग!

## कला की सार्थकता

गेस्टग युग अब विद्यमान साहित्य, कला में,—
अभिव्यक्त करता था। गर्जेना वह रही
उपेक्षिता, दलिता विहता के प्रति—असत्य जो।
वांछनीय यह सभी भाँति—भू की कुरूपता
मिटे, हटे दारिद्र्य, छँटें दुर्दिन के बादल।
रपटस प्रमुख प्रतीक आज विकलांग जगत का।

देख सके सौंदर्य असुंदरता में भी मन
यद्यपि असुंदरता केवल संकीर्ण दृष्टि भर।
कैक्टस हो कदम—सब कुछ ही सुंदर जग में।
विकसित हो भू मन, व्यापक सौंदर्य-बोध हो,
कला दृष्टि नव रूप करे निर्माण विश्व का—
सभी समान,—रहे जग में न विषमता का विष।

पर, गुलाब का मूल्य न इससे कम हो सकता।—
गुण विशिष्टता सदा समादृत होगी जग में।
सौकुमार्य, सौंदर्य, सुरुचि, संस्कार सूक्ष्मतम
क्रम विकास के शाश्वत श्रेष्ठ प्रतीक रहेंगे
जगत चक्र में। साधारणता की शोभा में
अवगाहन कर—मूल्य समझ पाएगा हृदय
अधिक सत्तम का,—जो विकास का लक्ष्य निरंतर।

अत वैकृतमों की बहुमत भी जन-युग भू पर
आभिजात्य गरिमा, अत शोभा के कारण,
गौरव मिलता सदा रहेगा गुण विशिष्टता को—
विभूति जो।
गुण वैशिष्ट्य अल्पमत होने पर भी विजयी
होगा सतत,—सृजन कला की सार्थकता जो।

## दीप्त भावना

आज भावना बुद्धि-किरण से आलोकित हो
परिणत होती नयी चेतना में जीवन की,—
जीव प्रकृति की लघु सीमाओं को अतिक्रम कर।

प्राणभावना, गत जीवन की रुचियों, सस्कारों से प्रेरित,
भले सहज अभिभूत हृदय करती हो जन का,
कला मुकुर में अतिरंजित हो—और लोकप्रिय भी
प्रतीत हो,—मनुष्यत्व का परिष्कार कर
नये मनुज को जन्म नही दे सकती वह व्यक्तिगत
अहता, रागद्वेष, सुखदुःख, मानसिक जीव प्रक्रिया
अभिव्यक्त भर करती वह जो गौण सत्य है।
विरह मिलन सवेग, प्राकृतिक प्रवृत्तियां ही
मुखरित होती उसमें,—वासी भाव मूल्य जो।

वृद्धि-स्पर्श मे ही चिद्दीपित राग भावना
नयी पीठिका प्रस्तुत कर सकती जीवन की—
भू विकास के लिए परम अनिवार्य चरण जो।—
आज विश्व मन को होना सर्वांग समन्वित।

## शिशु और जगत्

शिशु समान लगते हो,—किन्तु पृथक् स्वभाव ले
पैदा होते वे।—अबोध, हा, भले सभी हो।
निज रुचि-गुण अनुरूप रूप पा बाह्य जगत् का
विविध रूप से मूल्याकन करते वे उसका—
भिन्न धारणा बना विश्व के प्रति अनुभव से।

सघर्षण करते अविरत वे जग जीवन मे—
उसे बदलना कठिन जानकर स्वय बदलते,
निज स्वभाव रुचि का भी मूल्य समझ इस क्रम में।
शनै छोडनी पडती उनको वे सब स्थितिया
बहिरतर की—जो दुर्गम पथ बाधा बनती।—
जिन्हें हटाना सभव नही व्यक्ति के बल पर।

स्वर्ग दया भी नही सहायक होती। उसको
बाह्य भोग से आत्म योग समधिक श्रेयस्कर।
वही छिपा साक्षी अतर में उनको चुपके
आत्म अनात्म, असत सत की पहचान बताता,—
सम्यक् बोध दे व्यक्ति विश्व के संग ईश्वर का।

शेष सपदा अनुभव पक्व वृद्ध शिशु उर में
रह जाती जो,—वह अभग चैतन्य सत्य की,
जो उसका चिर साथी रहता अतिम क्षण तक।

## ऊहापोह

ऐसी भी होती मन की स्थिति कभी किसी दिन
जब कि विरोधी दृष्टिकोण दो उभर चित्त में
गूढ़ समस्या बन, करते आक्रांत बुद्धि को।
मगल शनि हो खड़े सामने क्रूर परस्पर।

ऐसे दुःक्षण में सम्यक् वक्तव्य समझना
सहज नहीं होता। दुबिधा में पड़ जाता मन।
बड़ा कठिन होता अपना विश्लेषण करना।
यह स्वभाव की सीमा होती और शक्ति भी,
जब कि गहन मथन करता मन—भू जीवन के
द्वंद्वों में उल्का—प्रकाश पाने को नूतन।

समाधान मिलता न सदा ही आत्म-तुष्टिकर।
सुधी गतागत पर न सोच करते—गीता की
सूक्ति सांत्वना देने में जब सफल न होती—
तुम पर देता छोड़ समस्या का निदान मैं।

मौन प्रतीक्षा करता हृदय प्रपन्न बोध की,
चित्त शांत हो स्वयं प्रश्न का बनता उत्तर।

## भूख

मैं मुग्धा गेहूँ की बाली
रूप हरित - रोमांचित।

धरती से रज देह सींच कर
सूर्य किरण से शक्ति खींच कर
मैं होती वर्धित, रस पोषित।

एक बात बतला दूँ गोपन—
पृथ्वी सूर्य-प्रभा से भले
ग्रहण करती मैं पोषण,—

अपने ही अस्तित्व बोध से
मैं उन्मेषित,
अपने ही भीतर से रहती
सहज उल्लसित।

घुटनों घुटनों पहुँच मनुज के
जब अरहट युवती सी करती
ताक झाँक मैं बाहर—
मुझे सुनाई पड़ता—दुस्तर
उदर उदर हा उदर।

सोच मग्न, विस्मित सी होकर
कहती मैं मन ही मन—ईश्वर!
यह मैं कैसा करती अनुभव
जीव धारियों का किरीट जो मानव

जिसने रच समाज, सभ्यता, संस्कृति,—
महत् चित्र इतिहास
शिल्प साहित्य कला जिसकी कृति,—
धर्म ज्ञान विज्ञान
मनुज गौरव उद्घोषक,
अंतरिक्ष अभियान
साहसिकता का द्योतक!—

क्षुद्र पेट के बल
वह कृमि सा रेंग धरा पर
प्रणत गिडगिडाता
घिघियाता
नंगा पेट दिखा कर!

तप्त विश्व के सभी चराचर
सदियो से केवल भूखा नर!

हम मानव के संवर्धन हित
करती अपना जीवन अर्पित—
शस्य श्यामला धरा उर्वरा
उपजाती नित अन्न अपरिमित!

फिर भी पेट नही भरता
मानव का भूखा—
पशु पक्षी रहते प्रसन्न
खा रूखा सूखा!

खाद्य पदार्थ जगत में अगणित
भूख नही मिटती मानव की किंचित!

कुछ रहस्य होगा ही इसका गोपन—
साथ समस्या पर मैं तब से
करती आई चिन्तन।

मुझको लगता—
मात्र पेट की भूख नहीं यह निश्चय,
उसको मनुज तृप्त कर सकता
उपजा भू से अमित अन्न
भंडारों में भर संचय।

चिर अतृप्त पर पेट स्वार्थ का
वह न कभी भर सकता,
अति भोगी रे उदर लोभ का
जो न अघाते थकता।

दोनों क्षुधा अचेतन मन की,
क्या कर सकती धरती,
जीवन की तृष्णा अथाह
वह नहीं किसी से भरती।

दानवीय उर दैन्य
न त्रिभुवन की लक्ष्मी हर सकती,
नारकीय तम गत
न अमरों की संपद् तर सकती।

भू मंगल के हित
तन मन—दोनों ही की
खेती आवश्यक,
अन्न उगाएँ—
साथ निराएँ
मन से तृष्णा के खर कंटक।

वितरित हो
जन मे श्रम फल
धरती की मिटे विषमता,

विकसित हो
आत्मिक बल,—
सित सयम से आती समता।

म मुग्धा सोने की वाली
प्राण हरित, रोमाचित—
कहती—
निज जीवन कर अर्पित—
बहिरतर सपन्न मनुज हो
आत्म बोध से प्रेरित।

## शुभ क्षण

घायल सब जग, घायल अब भय से जन का मन,
छाए हैं दारुण विनाश के दानव दिग् घन।
क्या तोपें तलवारें व्यर्थ करेंगी लड़कर?
सुलग रही विद्रोह वह्नि अब भीतर बाहर।

अंधकार-घन उगल रहे उग सूरज के कर
बदल गई युग दृष्टि—मूल्य भी गए सब बिसर।
उदय हो रही अभिनव संवेदना हृदय में—
मिलता सूक्ष्म प्रकाश नया उसके आशय में।

शस्त्रों का बल स्वयं पराजित—जानें निश्चय,
संभव भले विनाश, न उनमें संभव दिग्जय।
जन्म ले रही नयी शक्ति ज्योतित कर अंतर,
मानवीय जो, नम्र,—सूक्ष्म प्रज्ञा की मित वर।

अहंकार से मुक्त, दर्प दंशन से विरहित,
मनुष्यत्व के शाश्वत मूल्यों में संयोजित,—
सहज बोध से समझ रही वह जन जन का मन,
आलिंगन में बाँध समग्र धरा का जीवन।

खोल अँधेरे में प्रकाश का नव वातायन
मनुज नियति को देती वह सार्थकता नूतन।
घायल जग, घायल आशंका से जन का मन,
नव प्रभात के सूर्योदय का भी यह शुभ क्षण।

## शंख नाद

मेरी वीणा
स्फटिक भरा
बन गई अगोचर
झंकारें फूटतीं नाद बन
उर के भीतर!

वह न स्पर्श से बजती,
जीवन श्वास चाहिए,
माया मन जग मरे
नया निष्काम चाहिए!—
सृजन रूप अकुलाता उसमें
बन दिगन्त स्वर!

इसे न कुछ ताड़ना—
त्याग कर जीर्ण विरत मन
प्राणों में भरना
अभय आस्था का यौवन!—
नये मूल्य के प्रति
श्रद्धानत कर जन अन्तर!

शब्दध्वनि

शब्द नही वह, अतध्वनि,
मुखरित भू - अबर!
खुलते अर्थों के अनत
स्तर पर निगूढ स्तर!
वह प्रतीक भर,—नाद मूत
नि शब्द दिगतर!

आज्ञार ही शब्द
विश्व सागर से नि सृत,
गत ध्वनि वर्णो भावो मे
नव जीवन मुखरित,—
शुभ्र जागरण का आह्वान
सुनो नव स्त्री नर!

## धूप का टुकडा

एक धूप का हँसमुख टुकडा
तरु के हरे झरोखे से झर
अल्साया है धरा धूल पर—
चिडिया के सुफेद बच्चे सा।

उसे प्यार है भू रज से
लेटा है चुपके।

वह उड कर
किरणो के रोमिल पख खोल
तरु पर चढ
ओझल हो सकता फिर अमित नील में।
लोग समझते
मै उसको व्यक्तित्व दे रहा
कला स्पर्श से।

मुझको लगता
वही कला को देता निज व्यक्तित्व
स्वय व्यक्तित्ववान्
ज्योतिमय जो।

भू रज में लिपटा
भी शुभ्र धूप का टुकडा
वह रे स्वयप्रकाश
अखड प्रकाशवान्।

## भारत भू

युग युग की आस्था मन की डगमगा रही अब,
धरती सा धीरज भी भूजन खोने अपना,
रक्त-नखर-द्रष्ट्रा निर्मम यथार्थ के सम्मुख
माननीय आदर्शवाद मन लगता सपना।

औधे मुह गिर पश्चिम के जगमग प्रभाव में
अध अनुकरण करते नव शिक्षित पग पग पर,
भूल गइ भू अपना अतर-आलोकित मुख,
जीवन स्थितिया होती जाती प्रतिदिन दुस्तर।

लोग न परिचित निज भू की सस्कृत आत्मा से,
मध्ययुगी कीचड में लिपटे रूढिग्रस्त जन,
हीन भावना पीडित इस दिग् भ्रात देश का
ईश्वर ही रक्षक! विघटित होता प्रतिक्षण मन।

तोड रही दम मृत्यु शाति छाइ अतर में
कभी घुमड आए भू पर घिर अध बर्बर—
रक्त स्नान कर घृणित विषमताएँ जीवन की
सभव, नव रचना समत्व में बँधें परस्पर।

मुझे महत् आशा भारत भू के भविष्य में
जो अतर्मुख आत्म-सत्य की साधना निश्चित,
मानवीय ऐसा पदार्थ दुर्लभ जगती में—
जागेगा यह देश—करेगा जग को जाग्रत।

## पूर्ण क्षण

एक शीत लघु ओस,—हँसी सा, आँसू सा ही,
काँप रहा पत्ते के अन्तर में गिर थरथर!
उसे देखता रहा एकटक मैं जाने क्या!
भाव सिन्धु सा सिमट मूर्त उसमें उर भीतर!

छोटा सा वह एक किरण से स्मित-मुख दीपित,
एक मूक क्षण, एक सत्यकण उसमें जीवित!
छोड़ पत्र-अन्तर फिर मौन, विचार मग्न सा
वह खो गया गगन में बनकर वाष्प अलक्षित!

वह खो गया? नहीं,—निराश न होना मन को
वह अनन्त का यात्री, वह तृण कण का सहचर!
आता जाता रहता वह उड़ कभी व्योम में
कभी उतर भूपर फिर हँसता रोता क्षण भर!

मूर्त अमूर्त सहज होता वह भाव उल्लसित,
सृजन कला का गूढ़ रहस्य बिन्दु सा गोपन!—
उस पर ही सौन्दर्य समस्त सृष्टि का केन्द्रित,
वह न हिमालय से छोटा—वह क्षुद्र तुहिन कण!

लघु हिम कण या गीत-पंक्ति रचना क्या संभव
यदि न आत्म तन्मयता में हो कला निछावर?
कहाँ खोजते शाश्वत में, अव्यय, अनन्त में—
एक ओस कण, एक पूर्ण क्षण में भी ईश्वर!

## कविधर्म

सच कहना ही जग में कवि का धर्म है,
उसे नहीं कोई माने या पहचाने,
बाहर का जन-घोष नहीं कवि की वाणी,
भीतर स्वर जगने पर वह लगता गाने।

वह यथार्थ के माप तोल की तुला नहीं,—
भाव बदलता रहता जिसका दिन प्रतिदिन,
मानव आत्मा की गरिमा का ज्ञान उसे
जिसमें साधक होते जीवन के पल छिन।

शब्द नहीं है जहाँ, भाव भी मूक जहाँ,
वह अवाक् नीरवता को देता वाणी,—
खोई रहती जग के कोलाहल में जो
निराकार की प्रतिमा गढ़ता कल्याणी।

आंदोलित जन सागर जब करता गर्जन
ध्यान मौन सुनता युग परिवर्तन के स्वर,
सौम्य चंद्र सा सूक्ष्म ज्योति बरसाता वह
जन धरणी को नव जीवन ज्वारों से भर।

निखिल विषमताएँ स्वर-लय में बँध जातीं
बनता युग-संगीत जगत् का संघर्षण,
कटु यथार्थ ढल नए विश्व आदर्शों में
सजल घन बन बरसाता नव भाव-सुमन।

## संक्रमण

विस्तृत लगती रुद्ध दिशा,
आश्चर्य चकित सा अंबर,
सदियों का दारिद्र्य दैत्य
अब जगता अँगड़ाई भर।

करवट लेता जन-भू-जीवन,
मन सिंधु आंदोलित,
अंधकार की गुहा धरा की
अब धीरे आलोकित।

प्राणों में रस ज्वार,
चेतना में प्रभात का स्पंदन
नयी एकता में बँधने को
मानव का खंडित मन।

नव सौंदर्योन्मेष
मनोनयनों को रखता विस्मित,
निखर रहा मानव का मुख
नव गरिमा रेखा मंडित।

खोल दिए उपचेतन
निश्चेतन ने गोपन गह्वर
रुकी हुई थी विश्व प्रकृति
कब हो उसका रूपांतर।

अनगढ पाषाणों में
मणि रत्नों को छाँट मँजोकर
नव मूल्यों के वैभव में
गढना मानव का अंतर!

यह महान मन्वंतर काल
सुनता मैं फिर डमरू स्वन,
परिवर्तन खेलता फाग,
युग करता ताडव नर्तन!

खड़े सामने जन्म मृत्यु,
विष अमृत, भीम औ' सुदर,
विजय पराजय, ह्रास प्रगति का
रूपक! दृश्य भयंकर!

जीवन संघर्षण को देती
नयी दिशा लोकोत्तर
सृजन चेतना के सुनता मैं
दिङ् मादन वंशी स्वर!

## युग रमणी

आज सभी क्षेत्रों में स्त्री नेतृत्व ग्रहण कर
आगे बढ़ती—लाँघ देहरी घर आँगन की!—
डाक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, प्राध्यापक वह
पुरुष वर्ग से होड़ ले रही युग-जीवन की!

पर्वतारोही, सैनिक, कुशल यान चालक वह,
युग प्रबुद्ध, शिक्षित, समाज निर्माता नारी,
वह स्वतंत्र, नर की समकक्षी, नेता, मंत्री,
अबला अब सबला कहलाने की अधिकारी!

पुरुषों के गुण आत्मसात करती वह प्रतिदिन,
यंत्र सभ्यता की भी माँग यही निःसंशय,
किन्तु कहाँ वह सुघर शील सुषमा की प्रतिमा
अंतश्चेतन गरिमा उर में भरती विस्मय!

फूल चाँद, पिक मृग, चलोर्मि क्षप–निखिल प्रकृति के
श्री शोभा उपकरण प्रणत थे जिसके [illegible]—
वह अनिर्वचनीय नील सा उर [illegible],
मर्यादा का मधुर मुकुर स्मित [illegible]!

निखिल सभ्यता बनी प्रसाधन युग [illegible],
पर अब सौंदर्य खो गया—[illegible],
भोग तृप्त वह मात्र—न श्रद्धा [illegible]—
हृदय-सत्य ही साध्य—[illegible]!

## वस्तु बोध

वस्तु जगत चाहिए सभ्य नर को अब,
भाव गीत में ऊब गया उसका मन।

अब रवीन्द्र संगीत न भाता उर को
बहरे हृदयों को न हिलाता गायन,
सूक्ष्म कल्पना की उड़ान पर हँसते,
उन्हें स्थूल भंगुर के प्रति आकर्षण।

कला तुच्छ कुत्सित यथार्थ की सेवक,
काव्य न अब सौंदर्य बोध का दर्पण,
यौन गंध प्रति अंध प्राण मन प्रेरित
त्रास, अनास्था, संशय के उर में व्रण।

परिवर्तन युग गुह्य अचेतन से जग
घृणित विकृतियाँ उमड़ रही मन में छन,
निघटित मूल्यों के ह्रासोन्मुख युग में
स्पर्धा कुत्सा का उर में चलता रण।

भाव भूमि नव उदय हृदय में होकर
अंतर में संतुलन भरेगी नूतन,
नये सत्य का ज्योति स्पर्श पा जन मन
मनुष्यत्व के प्रति होगा नव चेतन।

वस्तु जगत की सीमाएँ अतिक्रम कर
भाव बोध नव भरता उर में स्पंदन।

## विकास क्रम

मानवीय संवेदन शून्य धरा जीवन जब!—
निर्विवेक यंत्र सभ्यता, विश्व की अतुल संपदा
पूर्ति नहीं कर सकती इस दारुण अभाव की।

एक ओर भू के असंख्य जन गण का जीवन
विगत युगों की रूढ़ि रीतियों में पथराया
मनुज चेतना के विकास पथ का अवरोधक!
और दूसरी ओर आसुरी भौतिक युग के
विपुल विभव, सुख सुविधा का आकांक्षी मानव
भोगवाद के पीछे पागल, बहिर्भ्रांत हो,
भूल गया—बहुविधि स्थापित स्वार्थों से जर्जर,
वह प्रतिनिधि भावी नव भू जीवन विकास का,—
कटु स्पर्धा में दलित क्रय विक्रय के जग में।

मनुष्यत्व से विरहित नर-पशु विचरण करता
भग्न धरा पर,—अंतर्मूल्यों से वियुक्त कर
इंद्रिय जीवन का भंगुर सुख! मध्य युगों में
ज्यों विभक्त था भाव-बोध इंद्रिय जीवन से।

लौह यांत्रिकों की संतति रोबोट, सक्रिय
स्थान ग्रहण कर रहे मुक्त मानव आत्मा का
निर्मित कर परिवेश जटिल कृत्रिम स्थितियों का,
जकड़ मनुज जीवन को यंत्रों के पंजों में!—
ईश्वर ही रक्षक अब हृदयहीन मानव का!

भीम भयकर मोड ले रही मनुज सभ्यता
दुबल हृदय न तनिक कल्पना भी कर सकता
जीवन की उस नयी भूमिका का—गत सीमित
अभ्यासा में बधा मनुज-मन अक्षम उसके।

पिघल माम म जाएँगे जग के विधान सब
भाव ऊष्णिमा में वह नव प्राणिक जीवन की—
महत ज्वार उठ विश्व चेतना के समुद्र मे
प्लावित कर देगा सकत तट विगत युगा के!—
महत सौम्य माभाग्य मनुज के लिए सुरक्षित।

## लाठी को घोड़ा

छुटपन में मुझको प्रिय था लाठी का घोड़ा
उसने तब से मेरा साथ नहीं ही छोड़ा।
उसको कभी लगाना पड़ा न कस कर कोड़ा
आंगन में भागता स्वयं वह ढीठ निगोड़ा।
घोड़ा कहिए, वायुयान या उसका हाथी
ऊपर नीचे मुझे घुमाता जीवन साथी।

घुसता वह मुझको ले मन के गहन वनों में,
मधुपों के स्वदक करता पार क्षणों में।
रजत प्रसारों में आत्मा के मुझे उड़ाता,—
शोभा का वैभव मेरे उर में भर जाता।

वह अनिंद्य सुंदरी कभी का नव यौवन में
आता चुपके प्राणों के अपग्न आंगन में।
सारे जग में मिली न वह नव युवती सुंदर,
ख्वाबों ही में रहा, खोजता उसे निरंतर।

स्वर्गिक ऐश्वर्यों का मन में भर सम्मोहन
खोले उसने कितने चिंतन के वातायन।
कहाँ कहाँ मैं नहीं गया हूँ उस पर चढ़कर
विद्युद् गामी पगों से कर पार दिगंतर।
बचपन से वह रहा सदा मेरा प्रिय सहचर
उच्च चेतना शिखरों का रोही दिग् भास्वर।

उसी मनोगति से वह अब भी उडता निस्वर
स्वग सपदा भू पर बरसाने को तत्पर।
जन मन के दारिद्र्य दुख में कर अवगाहन
निज उर के शोणित से धोता भू का आनन।

इद्रधनुष बन छूता जीवन में दिगत स्मित
धरा स्वग रचना के प्रति निष्ठा से प्रेरित।
नया क्षितिज खोलता मुग्ध आखो के सम्मुख
नव प्रकाश, उल्लास, प्रीति के प्रति कर उमुख।
वह शैशव का चेतक, लाठी का प्रिय घोडा
नयी दिशाओ को उसने मेरा मन मोडा।

## अभीप्सा

सौंदर्य की सौरभ में
मन को नहलाओ,
सूक्ष्म भाव ऐश्वर्य-गगन में
मुझे उडाओ,—

ओ मेरे प्रेमी,
पावनता की लपटों में
मेरे तन्मय तन मन
प्राणों को लिपटाओ!

कौन भूमि वह?—
स्वप्नों के पावडे बिछाकर
जहां विचरते तुम
अंतर के तद्गत क्षण में—

जहां कला कल्पना तूलि से
सृजन सत्य को
सतत सँवारा करती
स्रष्टा के दर्पण में!

मुझको नव चैतन्य विभूति
बना रस अकल्प
नव मानव के मन प्राणों में
सहज रमाओ!

सौ सौ रूपों में
    अमृत श्री शोभा होती
सत्य जहाँ साकार
    समाधित उर चिंतन में,

अभिव्यक्ति की इंद्रधनुष
        रत्नच्छायाएँ
लोटा सी करती
    उन्मेषित उर-आँगन में—

मुझे प्रेरणाओ,
    उन्मेषों के उस जग में
नव प्ररोह की सित बाहों में भर
        ले जाओ!

स्वर्ग सुधा के घट पर घट
    पीते न अघाना
जहाँ युगों से प्यासा
    निश्चेतन उपचेतन

तृप्त नहीं होना
    तुमसे सर्वस्व दान पा
जन भू के प्राणों का
    अगाध आरोह यात्रा!

जहाँ प्रतीक्षा में रत प्रेम
    मनुज आत्मा के
जन्मयुग मणि सोपानों पर
        मुक्त उतारा!

ओ मेरे साथी,
पावनता की आभा में
मेरे तन मन प्राणों को
अहरह लिपटाओ।

## अनुपमा

बाल भवन में तुम्हे देख कर आज अनुपमे,
आत्म पराजित अनुभव करता म निज मन में—
कसे तुम्हें उबारूँ?—माग न मुझे सूझता!
अह, कैसी दयनीय मलिन स्थिति में रहती तुम
छोटे बच्चो की सस्था में पडी उपेक्षित—
मानव उर की निममता का नरक द्वार जो!

तुम्हे गोद लेने को आतुर नव से मेरा
हृदय तडपता—तुम निरीह सुकुमार बालिका,
हिम निपात असि हत प्राणो की कलिका कामल!

तुम हो कुछ अस्वस्थ, चिकित्सक कहते मुझसे
एक पर की हड्डी में सूजन ह सभव,—
म इसका उपचार कराऊँगा, निष्ठा से
पालन पोषण का दायित्व सँभाल तुम्हारा
साथक समझूगा अपना जीवन, प्रिय दुहिते!
तुमसे सुदर क्या मुझको नही चाहिए!

तुम सुदर बन सको हृदय मे—पा अनुकूल
परिस्थिति, रुचिकर शिक्षा दीक्षा—उन्नत सस्कृत
शील-सौम्य सस्कार ग्रहण कर सको निरतर,—
मन का ही सौदय चाहता हूँ म तुमसे!

## स्तुति के प्रति

एक किरण उतरी आगन में
म उसको कहता स्तुति
मन कक्ष में छाइ नीरव
उसकी स्मित शैशव द्युति।

धरा प्रार्थना सी वह पावन
उठ कर धीरे ऊपर
ईश्वर का मुख देख सके
अनिमेष हृदय में छवि भर।

उतर वस्त्र सा देह-बोध
छाया सा गिर चरणो पर
अपने ही में उसे अनावृत
स्थित रख सके निरतर।

धूल फूल की जीवन वीथी में
विचरे वह निर्भय,
जग के द्वन्द्वो मे हो परिचित,
भूजन के प्रति सहृदय।

चरण चिह्न जो धरती की
रज में हो उसमे अकित
दीपित हो उनसे युग का पथ—
नयी लीक हो निर्मित।

रचना की शक्तियाँ
प्रेरणा पाएँ उसके मुख मे,
निज मुख में हो अविच्छिन्न
सयुक्त अन्य के दुख मे।

मन मे सुदर हो वह,
अपने कर्मों मे सुदरतर,
युग प्रवुद्ध हो वुद्धि,
सरल उर जीवन ईश्वर का घर।

देश देश की भाव विभव
सुषमा से हो वह मडित,
शोभा प्रतिमा को करता म
भू मगल प्रति अर्पित।

दीपशिखा वालिका
गेह जो मेरा करती दीपित
पूण यौवना उषा वन वह
करे विश्व पथ ज्योतित।

## पावन अबोधता

मुझको लिखता देख, हाथ से कलम छीनकर,
मेरी पोती ने टेढ़ी मेढ़ी रेखाएँ
कागज पर कुछ खींच, मोड़ अपनी प्रिय ग्रीवा,
देखा मेरी ओर, दर्प से स्फीत दृष्टि से।

उन निर्मल नीले नयनों से झाँक रहा था
विस्मय का आकाश, अमित विश्वास से भरा,
आत्म विजय के स्मित प्रकाश से विस्फारित सा।

मुग्ध भाव से पीता रहा सरल प्रसन्नता
मैं अपलक चितवन की—मन में लगा सोचने
बचपन की पावन अबोधता कैसी अद्भुत,
मधुर, कल्पना प्रिय होती है!
सहसा मेरा
ध्यान गया अपने ऊपर! कुछ सीधे टेढ़े
आखर कागज पर लिख, उनको गीत छंद कह,
मैं भी समझते सबको समझाता हूँ अब
अपने को, गौरव से फूला! क्या मनुष्य में
शाश्वत शैशव वहीं छिपा रहता, अनम की
भाव मूक गोपन खोहों में?
कितना थोड़ा
मनुज ज्ञान पाता आजीवन विद्यार्जन कर!
सदा अगम्य रहेगा ज्ञान, मनुज अबोध शिशु!
पोती की विस्मित चितवन में सत्य था महत्!

## यथार्थ और आदर्श

ज्यों ज्यों मैं देखता
निकट से मुख यथार्थ का
आदर्शों का ही प्रेमी बनता जाता मन।

कर्दम की सार्थकता इसमें
वह पंकज को
देता जन्म—
ऊर्ध्वमुख लोचन।

लक्ष्य बिना ज्यों मार्ग व्यर्थ ही,
त्यों आदर्श बिना यथार्थ का प्रांगण,
मानवीय आदर्श साध्य—
अनगढ़ यथार्थ जड़,
आत्म प्रगति के कंटक-पथ का साधन।

बहिर्भ्रांत युग
भोगवाद के पीछे पागल
खो मानव आत्मा का
चिर अर्जित गौरव धन।—

नग्न यौन शोभा में लिपटा
जड़ यथार्थ को
चित्ताकर्षक देता बहु विज्ञापन।

जीवन संघर्षण की
कठिन दुहाई देकर
नारकीय खल कर्मों में रत भू जन—
राल टपकती मुँह से
धन की बातें सुनकर,
ये निरीह का करते शोषण दोहन!

समझौता करते रहते
आत्मा से प्रतिक्षण
घोषित कर विकसित यथार्थ का दर्शन,—
कर्दम कृमि ये
कर्दम जग ही भाता इनको
कुत्सित घृणित
विकृत के प्रति ही
करते आत्म समर्पण!

वे यथार्थ का भी तो
मूल्य भला क्या जानें?—
उल्लू सीधा करना जिनको प्रतिक्षण,

प्रथम पंक्ति में सभ्य जनों की
स्वयं प्रतिष्ठित—
मनुष्यता से वंचित जिनका जीवन!

अत, देवता जय
यथार्थ के पक्षधरों को,
आदर्शों के प्रति
समर्पित अर्पित होना मन—

सत्य यही जीवन यथार्थ का
मानवीय आदर्शों का
बन सके प्रणत सिंहासन!

## मेरा जग

रवि, किस दुनिया में रहते तुम?—
    पूछा करते मुझसे सब जन,
तुम कोकिल चातक के स्वर में
    गाते रहते किसके गायन?

देखते नहीं, कसा तीखा
    अब भू पर जीवन संघर्षण,
प्रतिदिन दुष्कर होता जाता
    जग में जीवन करना धारण!

धँसने को मानवता का रथ
    अब भौतिक कर्दम में दुर्गम,
प्राणों का दुर्दम मत्त वृषभ
    तोड़ता रास, पथ कर अतिक्रम!

हा, कहा गया जीवन सारथि,
    मच रही पुकार सकल जग में,
अब दिशा हीन भागती बुद्धि,
    गहरे खाइ खंदक मग में!

दारिद्र्य दुःख का ढो पर्वत
    जन कृमि अब जीवन मृत, हत मन,
हो विश्व विषमता से आहत
    विध्वंस गरजने को भीषण!

अधा सा भटक रहा विवेक
शतमुख पथो मे लक्ष्य-हीन,
दिशि रहित ह्रास विघटन तम मे
प्रज्ञा प्रदीप लौ हुइ क्षीण!

सबके भीतर अब मूक रुदन,
सबके उर मे नैराश्य घोर,
आशाआकाक्षाएँ धूम-शेष,
दीखता विपद् का नही छोर!—

म चुप रहता, कहता मन मे
सब ज्ञात मुझे भय का कारण,
शस्त्रो से समधिक शब्दो से
कवि लडता जग जीवन का रण!

अपने मे, अपने जग में रत
सघपण का कर विज्ञापन
तुम लाभ उठाते जगती से
जीवन का कर शोषण दोहन!

म स्रष्टा के जग मे रहता
अब सृजन भूमि मेरा आगन,
उपकरण जुटाता रहता नित
जग में आए नव सयोजन!

कृमि मानव भी मानव की कृति,
युग-जीवन उसका ही दपण,—
म लाँघ स्वय को, निज युग की
जन सृष्टि रच रहा हूँ नूतन!

निर्मित करता नव मानव म
युग सीमाओ से उठ ऊपर,
जो नव प्रबुद्ध मानवता को
दे सके जन्म रस की भूपर।

मै जिस भू पर रहता, उसमे
कल तुम को भी करना विचरण,
मेरे प्रिय कोयल पी-खग भी
उस भू का ही करते कीर्तन।

मुझमे छिड़ते वन मित्र शत्रु—
मै हूँ अचेत युग सकट प्रति,
बासुरी बजा मन के वन मे
खोजा करता नव स्वर-सगति।

उनको न सूक्ष्म का तनिक बोध,
वे दबे स्थूल के पर्वत से,
मै एक सास म उडा उसे
पाता हूँ शक्ति अनागत से।

कवि रे भविष्य की ज्ञात दृष्टि,
देखता जगत के आर-पार,
स्वर स्पर्श सुधा से जन मन का
जीवन का हरता व्यथा भार।

वह बाध विसगति को लय में
अतजग की कर नयी खोज—
गाता—शुक रोर हुआ जग का,
दे बुद्धिभ्रांत को लक्ष्य-बोध।

## मुखर

प्रात आँख खुली तो
खिड़की से आ-आकर
चिड़ियों के कलरव ने
अलस उनींदे मन को
मोह सा लिया।

आँख मूँद
मैं लगा देखने
झुंड झुंड सतवहिनी
जुट मेरे आँगन में
चहक रही हैं
फुदक फुदक कर
हर्ष भरे सैकड़ों स्वरों में।—
वाद्यवृंद बजता हो
कल कोमल कंठों का।

अंगड़ाई ले,
मैं निमग्न की स्वर ध्वनियों का
रस लेता जाता था मन में
लेटा, लेटा।

इतने ही में
  सनवहिता की मधुर सभा में
एक काक आ गया कहीं से।—
समझते यह सोच
  कि चारा बड़ा पड़ा है।

और चीखने लगा
  गले को फाड़ काक वह,—
  काँव काँव कर काँव काँव
    कटु काँव काँव!
उसका मुखर निमंत्रण था वह
    वायस कुल को।

गीत बीच के
    उन अनमोल स्वरों में घुसकर
उन्हें धीर लगी मिटाने।

अब उठ करके
    दूर गए वे प्यारी स्वर
मन उन को लगा बेंधने
        तीक्ष्ण नाद से।

मैं उठ बैठा—
  लगा सोचने—
    क्रोध मधुरता ही क्या
  विजयी होगी जग में?
मधुर स्वर भी
  मधुर मन्द स्वर मर्दिता ही
छिन्न भिन्न कर
  जाता सारा सुन्दर स्वर
    [illegible] जीवन में!

संस्कृत सौम्य सुयोग्य
सुरुचि के लिए उपेक्षित
पीछे हटते जाते,
हटते जाते, उपरत,
मन के वन में!

कटु कदर्य निर्मम कठोर
जंगली वाक्
कर्कश कंठ स्वर में
बर्बर विज्ञापन कर
निज आसुरी शक्ति का,—
मुखरित करते
अनगढ जग के लोक मंच को,
आत्मकथा गढ़
लज्जानग्न दर्प से दर्शित!

विश्व जयी के निश्चय अन्त—
पर आत्म पराजित!

## संकेत

क्या ऐसा हो सकता?
जो मैं कहना चाहूँ
उसे न लिख कर
शब्द दूसरे ही लिख दूँ
कोमल करतल पर!—
और समझ जाओ
तुम मेरे मन का आशय?

तुम्हें ज्ञात है
और मुझे भी,—
जो कुछ कहना मुझे
वही क्या तुमसे कहता?
या जो तुमको कहना हो
क्या तुम वह कहती?

शब्द खोखले
स्थूल मन स्थितियों के द्योतक!
सूक्ष्म भाव अनकहे
समझ में आ जाते नित!

उन्हें चाहने पर भी
नही कहा जा सकता।
तब वे अपना स्पर्श
मर्म या मूल्य
सभी कुछ खो देते है।

मेधा, प्रवचन
असफल होते
सब क्षेत्रों में—
सब स्थितियों में।

इसीलिए
निःस्वर संकेत
सबल है।
जीवनप्रद, प्रेरक है
मुखर शब्द से।

# प्रेम

मुझे स्मरण है—
बचपन में—तब म किशोर था—
स्फटिक चादनी में बठा
पवत प्रदेश की—
सोचा करता
डूब
प्रेम के बारे मे म।
कहीं सुना था
प्रेम बडा अदभुत होता है।
कोइ युवती परी, किशोरी
जो पहिले परिचित भी न हो—
अचानक आकर
फूल स्पश पा मधुर प्रेम का
अर्पित कर देती निज जीवन।
या दोना जन
एक दूसरे के प्रति खिंच कर
कर देते सवस्व निछावर
प्रेम शक्ति से प्रेरित।

उन्हें मनुज क्या
यम भी नहीं छुड़ा सकता फिर।
पुनर्जन्म लेकर भी
वे प्रेमी ही बनते।

तन्मय हो जाता तन मन तब
अमर प्रेम के स्वप्न लोक में—
तारे भी कुछ नीरव स्वर में
ऐसी ही बातें-सी कहते,
मुक्त नील भी
करता सस्मित
मौन समर्थन।

धीरे धीरे
तरुण हुआ मैं।
अगणित ग्रंथों में की खोज
अजेय प्रेम की।

देश विदेशों में भी घूमा,
मिली अनेक युवतियाँ भी
सुंदरियाँ—परियाँ—
भावों का आदान प्रदान
हुआ भी कुछ से।
किन्तु, दूसरी ही अनुभूति
हुई कवि मन को।

आत्म समर्पण करनेवाला
सर्वत्यागी रूप प्रेम का
कहीं नहीं ही दिखा मुझे।

बस मूक व्यथा,
वेदना, निराशा,
अश्रु, तप्त निश्वास
मिले उपहार रूप में—
आत्म पराजय
और ग्लानि भी!
छायावादी कवियों ने
जिस दुख की महिमा
गाई अस्फुट स्वर में
छिन्न हृदय तंत्री में!—

सुज्ञ प्रौढ मन
बोला मन ही मन अपने से—

प्रेम कल्पना है
किशोर मन की, यौवन की!—
हा स्वर्गिक कल्पना!
किन्तु वह इस धरती पर
कभी उतर
साकार नही होती!

मन वृद्ध हुआ अब!
वह कहता, कल्पना भले हो
सत्य वही है,
मनुज हृदय को प्रिय भी!

कहता आत्म बोध
तन्मय हो—

हाँ, प्रेमी प्रेमिका युगल भी
वही प्रेम है!

ईश्वर को अर्पित अब,—
भू पर होगा मूर्तित!
तभी स्वर्ग भी सार्थक होगा
जन धरणी पर!

## मन का साथी

कभी सोचता हूँ जब मन में
क्या म
एकाकी ही आया जग में?—
भूला फूला से भू मग में!—

तो, तोता मति करती घोषण
गुरु गभीर वन,—
यहाँ अकेले आए हो तुम?
पूव जन्म के कर्मों का फल
अपने सँग में लाए हो तुम!
इस जीवन में
पूव जन्म ही का फल फलता
कर्म विपाक निरतर चलता!

रटी रटाई बातें सुनकर
मेरा मन क्षुब्ध देता उत्तर—
पूव जन्म का यह अनचाहा
बोझ भले ही म सँग लाया,—

पर जिस पर ह गव मुझे
जिससे रहता म जीवित
जिसके प्रति म अर्पित—

यह न पाप पुण्यों का फल
—यह भूमा का मंगल—

जन्मजात आनंद
सहज जो बहता
उर में प्रतिपल
वही हृदय का मंगल।

सुख दुख के बहु रंग भुला कर,
राग द्वेष व्यथा के क्षत भर,
मुक्त हृदय
जो जीवन का करता अभिवादन,
रँगता निज मन की शोभा से
चित्र प्रकृति का आनन।

मुझको मन से लेना बाहर
भूमा का रस लेना जो
भावों की बाँहों में भर,—
तदाकार हो निस्स्वर!
अंतरतन्मय
गूँज प्राण मधुकर उठते
जीवन-मधु करते संचय।
नहीं अकेला आया मैं
निःसहाय,
बँधा सूक्ष्म आनंद सूत्र में
जग को भी
अपने ही संग
लाया हूँ निश्चय।

## युग गाथा

इस अबोधता पर जन युग की
हँसता मेरा कवि-मन!

नर यथार्थ के पीछे पागल
खोता जाता आंतर संबल,
देख बिम्ब निज जग दर्पण में
भूल गया अपनापन!

स्थितियां अब उसकी निर्माता
जो स्थितियों में नहीं समाता,
विजयी स्थितियां, स्वयं विजित वह,
भ्रांत बहिर्मुख जीवन!

भोगवाद के प्रति वह अर्पित
आदर्शों को गिनता कल्पित,
मृगतृष्णा से जीवन कुंठित
उर में कटु स्पर्धा रण!

सामूहिकता का वह प्रतिनिधि
भूल गया मणि दीप आत्म निधि,
यंत्र चक्र बनना उसकी विधि
भौतिक सुख अवलंबन!

अपना दास जगत का नेता,
वह दुर्ध्यान रंग अभिनेता,
आत्म अंध बनता युग वेत्ता,
जयी साध्य पर साधन।

शस्त्रास्त्रों की होड़ शिखर पर
महानाश के हित नर तत्पर—
भस्मासुर सिर पर न धरे कर,
आत्म परीक्षा का क्षण।

भू जीवन यथार्थ का आँगन,
धोना मुझको उसका आनन,—
मानवीय भर उर में स्पंदन
जड़ को करना चेतन।

## जीवन मुक्त

मैं धरती की धूल झाड़कर
खड़ा मुक्त जीवन के तट पर।

मिट्टी के जड़ मूक खिलौने
ये मुझको अब सभी सँजाने
नयी चेतना फूँक रहा मैं
इनमें नव जीवन स्पन्दन भर।

इनमें नहीं मनुष्य सभी जन
पशु भी, कृमि भी अहि भी विषधन
देव सृष्टि वैचित्र्य बहुमयी
नया बोध जगता उर भीतर।

चाक चलाकर, मैं मन ही मन
मनुज मूर्ति गढ़ता नव चेतन,—
अंतर का दर्पण हो बाहर
बाह्य विकृति भर बने न अंतर।

सागर लहरें युग-आंदोलित
अंतर को करती उद्वेलित,
फेनों के शिखरों पर चढ़ मैं
युग वाणी में भरता नव स्वर।

जग की सीमाओं में बँध कर
मनुज न उठ पाएगा ऊपर,
जन भू जीवन का स्रष्टा नर
नव दीपित हो दृष्टि दिगंतर!

मानवीय बन सके धरा-तल
नयी चेतना का पा संबल,
मेरी नव स्वप्नों की तरणी
पार लगाए तुम्हें डुबो कर!

## मध्य स्थिति

मने चुना अधर अपने हित,
यही मध्य स्थिति सबसे सुदर!

जी करता, होता ऊपर ऊय
भू पर विचरण करता निभय,
अतर तुम मे रहता तन्मय—
जाता जाता बाहर भीतर!

हृदय कमल मे स्थित तुम मेरे
जग जीवन नित रहता घेरे,
मुझे चीन्हते स्नेही चेरे
भव विकास अवलम्बित जिन पर!

म साधारण मे साधारण
उर में लिए धरा जन के व्रण,
मुझे हिमालय प्रति हिम का कण,
सत्य अखड, अखड चराचर!

बद्ध नही म मुक्त नही म,
तुम मे चिर संयुक्त वही म!
तुम्हें देखता सदा यही म
मनुजा में तुम मनुज अनश्वर!

आत्म-नम्र रखते तुम मन को,
शाश्वत-गर्भित जीवन-क्षण को,
भरते करुणा से भू-व्रण को,—
मिटा आत्म-पर के लघु अतर!

दूर निकट आता जाता नित,
जड नव चित्-स्पर्शों से प्रेरित,
उर को तुम नित रखते विस्मित
खोल दृष्टि में नया दिगतर!

## फूल फल

निर्निमेष सौन्दर्य
    नित सप्रयोजन भी हरती मन
दीप्त वर्ण सुंदर भावों के
    उषा प्रतीक हो पावन!
सौरभ साँसों से भर देते
    जन भू उर का आँगन —
सुघर पत्र सौंदर्य कला के
    तुम हो जग में दर्पण!

फूलों से क्या होगा कवि
    अपलक भर रखते लोचन,
रंगों गंधों से हो सकता
    क्या जीवन का पोषण?
फल हैं मूल्य—झुकी तरु डाल
    भू प्रति किए समर्पण,
निरुपम वन निधि के
    रस करता सहज स्वास्थ्य संवर्धन!'

"फूल फूल है, फल फल है,
तुलना सदैव हो घातक,
सुंदर को सुंदर के लिए
न करना दारुण पातक।
तन के भोजन के संग
मन का भोजन भी आवश्यक,
सुंदरता आत्मा की पोषक,
भू मांगल्य विधायक।

"कला पूर्ण यदि अपने में,
वह होगी जन अभिभावक,
सुंदरता रस सार सृष्टि की,
सूक्ष्म भाव उन्नायक।
प्रेम शक्ति की प्रेरक वह,
जन जीवन अभिमत दायक,
सृजन कर्म संचालक,
मधु के फूलों की मृदु सायक।"

## अंतर्जग

जब मेरी हृत्तंत्री में जगता रस स्पंदन
नव स्वर संगति में बँध जाते जड़ चेतन!
भर-से जाते दूर विषमताओं के भू-व्रण,
निखिल विश्व में आ जाता आनन्दित मधुवन!

अब खुले दिग वातायन में नव जागृत
नव प्रभात मुख दिखलाता किरणों से मंडित,—
मसृण रेशमी आभा अंचल में हो आवृत
अंग अंग धरती के लगने लगते शोभित!

गा उठते खग वृंद, मत्त नाचता समीरण,
हुआ कूल, सागर लहर उठ करती नर्तन,
मौन मंत्रणा-से करते रवि शशि तारागण
मानव जीवन का करते नव पर्यालोचन!

निःसंशय हो जाता तब मेरा अंतर्मन—
ये प्रकाश, आनंद शांति सौंदर्य के भुवन
वही मनुज के अंतर्जग ही में चिर गोपन,—
प्रेम प्रतीक्षा करता जिनकी पथ में प्रतिक्षण!

## मृत्यु

यह जीवन कितना महान् है! इसके सिर पर
विधि ने नीरव नीलमणि जडित मृत्यु मुकुट धर
गौरव उसे दिया है,—जीवन प्रति हो सहृदय,—
वह फिर से नव जन्म ग्रहण कर सकता निर्भय!

नव यौवन की मांसल शोभा में हो वेष्टित
विचरण कर सकता भू पर प्राणों से मंडित!
जन्म मरण की आँख मिचौनी से चिर परिचित
जीवन रे अविजेय-सत्य जन भू पर निश्चित!

उदय कभी होते कृतांत आत्मा के सम्मुख
देख वज्र दृढ़ नील गात्र मन को मिलता सुख!
न्याय यष्टि कर में, करुणा से आर्द्र नयन मन,
जीवन संरक्षक-से लगते वे चिर गोपन!

मृत्यु लोक की दारुण स्थिति दुख देती मन को
देख मृतक के छिन्न मनस्क बिलखते जन को!
आँसू की मुक्ता लड़ियों की माला अनगिन
मृत्यु देव के वक्षस्थल में पड़ती प्रतिदिन!

सजनों अपनों का विछोह—भावों का बंधन
सहज न होता छिन्न, दुख के लगते दंशन।
पर गरिमा से सहना उसको लगता शोभन,
मृत को दें सम्मान मृत्यु का निःस्वर पूजन।

भू जीवन में मरण-सुंदर मृत्यु अमेय,
उसका गुरु व्यक्तित्व गंभीर, पवित्र, अनामय।
मृत्यु पार भी मुझे दिखाई देता जीवन,
स्वप्न द्वार भर मृत्यु,—करें जन सहज संतरण।

## यंत्र नगर

भगवन ऐसा कभी न हो इस भारतभू में
जब घर पर घर, मंजिल पर सौ मंजिल उठकर
औद्योगिक देशों नगरों सा दारुण दुर्गम
ईंट पत्थरों का निर्मम गढ़ इसे बना दें,—
टेढ़े मेढ़े सर्पीले मार्गों में गुम्फित।

जहाँ देखने को न मिलें फूलों के प्रिय मुख,
सुन्दर घरोंदों से आ जाकर चिड़िया फर-फर
गीतों के पन्नों में मन की व्यथा अजाने
उड़ा न ले जा सके। जहाँ खिड़की से थर-थर
चाँदी के धब्बे सी धूप न हँसे फर्श पर।

जहाँ सुखद व्यक्तिगत नहीं साम्राज्य प्रकृति का
धनी साज सज्जाओं में आधुनिक गृहों की—
हरा भरा मृदु दूब बिछा न हो आँगन में
पग पग पर उठता दबता मखमली तल्प सा।
हवा न हो उन्मुक्त नीड़ धमनी के घर से
आँखों में बह जाना साँसों में चुभना सा।
भटक न जाए ज्योत्स्ना बिजली के प्रकाश में
स्वप्नों के अंतर में मन को रहे लपेटे।

मुक्त प्राणप्रद बहे न वायु—जनों की सद्य
सौरभ-मासा से जीवन मन का विषाद हर।
तारों का नभ चुरा न हो भीतरी सहन में
निःस्वर संभाषण सा करता शरद निशा में।

षड्ऋतु पापिन की सुंदर निरुपम निसर्ग को
प्रभु, न कभी विच्छिन्न मनुज से होने देना।

## चिड़ियों की सभा

चिड़ियों की उस वृहत् सभा ने
मुझको चुना सभापति,—
मैं भी मन से उड़ता, गाता,
भाई उनकी संगति।

कभी बैठ मेरी गोदी में,
कंधों पर, फिर सिर पर,
करने लगीं मधुर कूजन वे—
भाव मुग्ध स्वर-सहचर।

भिन्न मनुज साथी था उनको
वे थीं मन में हर्षित,
मेरे भी मणि-वर्ण कल्पना-
पंख फड़कते पुलकित।

सुनता सहज स्फुरित गायन मैं,
सुनता निःस्वर अंतर,
चटुल समीरण, मुखर दिशाएँ
स्वर पर हुईं निछावर।

निखिल प्रकृति करताली देती,
तरुवन भरते मर्मर,
घुल जाता उर का निःसार
लय में स्वर्गिक सागर।

पूछा मने, रसे गाती
तुम रस तन्मय गायन,
रुक सा जाता वात भल गति,
मोहित हो उठते क्षण।

बोले खग, कुछ क्षण नीरव रह,
नही जानते कारण,
क्या उन्मेषित होता अतर—
स्वत फूटते गायन।

तुम्ही बताओ, कवि हो तुम,
क्या गीत शब्द-स्वर साधन?—
रहा सोचता जाने कब तक
म कर आत्म निरीक्षण।

जान न पाया म भी कुछ भी
सजन रहस्य अगोचर—
विहग उड गए थे सब वच के
मुझको देख निरतर।

नही जानता, क्या गाते खग
गध कुसुम क्या निस्वर,—
भृग मर्मर—दाना क्या कहते
इसे जानना अतर।

## भाव सिद्धि

फूलों की आत्मा में सहसा
मेरी भेंट हुई निर्जन में—
उसकी अपलक थी शोभा से
विस्मय मूढ़ हुआ मैं क्षण में।

वर्णों की किरणों में गुम्फित
तन पर साड़ी थी स्वच्छ-कोमल,
केसर पावक की मधु अलकें
शोभित थी स्मित मुख पर निश्चल।

सौरभ की उन्मद साँसों में
प्राण हो उठे मेरे पुलकित,
फूलों ने छू मुझे हँस लिया
प्रीति तड़ित् से कर तन वेष्टित।

मैं न सह सका दीप्त स्पर्श सुख
हुआ अंक में उनके मूर्छित,
कौन पचा सकता शोभा विष
शक्तिपात के सुख में दंशित।

बोली पुष्पात्मा, तुम मूर्छित
जग के प्रति, मेरे प्रति जाग्रत,
शोभा की साधना तुम्हारी
पूर्ण हुई,—मैं सिद्धि अवतरित।

 

हृदय चेतना थी वह निमज्ज
स्वर्गिक भाव निभर में रंजित
तीर्थ स्नान सा कर मेरा मन
देह मुक्त हो उठा उत्कंपित।

मुझे देख रस तन्मय स्थिति में
बोली वह, स्मित पुलकित मन में,
यहाँ समाधित होने? मुझको
स्थापित करो धरा आँगन में।

सोचा, जग के प्रति विरक्त रह
म न पूर्ण हो सकता निश्चित,
जग जीवन से भाव सिद्धि को
करना होगा मुझे समन्वित।

तब से विश्व विसंगतियों में
अंत शोभा कर संयोजित
नव भू जीवन रचना के प्रति
सृजन रूप से हूँ म प्रेरित।

## पत्थर में फूल

दो पाषाण खंड
मुर्दों-से सटे परस्पर,
बैठे हैं वन के अंचल में।

छायाएँ जब कँपती तन पर
लगता दोनों मौन रहे,
या आपस में चुपके से
फुसफुसा रहे कुछ।

षड्ऋतुएँ आतीं
पर उनमें
कोई भी परिवर्तन
नहीं दिखाई पड़ता।

कोयल गाती,
शरद पूर्णिमा भाती,
फागुन की उन्मद बयार
वन में सौरभ बिखराती—

उन पर तनिक प्रभाव न पड़ता,
कभी न दिल ही उछल मचलता,—
रक्त दौड़ना दूर रहा
उन्मत्त शिराओं के भीतर।

हां, गर्मी में
नद्ध गद्ध कुछ देर के लिए
वहां ठहरता थक कर क्षण भर।

सावन भादों में
अलबत्ता
कुछ काई सी जम जाती
खुरदुरे बदन पर।

शेष सनातन जीवन उनका
गुह्य मौन में बंदी रहता।

आज अचानक
एक जंगली फूल
फोड़ उनकी दरार को
साहस कर उनके सीने से फूट
निकल आया लो, बाहर।

निज विस्फारित चकित दृष्टि से
देख रहा वह
यमज अनमने पाषाणों को
सोए तदाकार तन्द्रा में।

प्रतनु वृंत पर
नाच रहा वह मंद पवन में—
निज उर का उल्लास
बिखर उन पर उंडेलने।

दोनों मित्र
स्वयं भी कुछ विस्मय विमूढ़-से

निर्विकार नयनो मे
देख रहे उसका मुख।

मन ही मन
  ज्यो सोच रहे हो—
हाय विधाता,
पत्थर उर में
फूल खिलाना था क्या तुमको।

## समाधान

समाधान क्या संभव मन के स्तर पर?—
जब कि बदलना निखिल विश्व जीवन को!

बाह्य परिस्थितियों पर अवलंबित जन-जीवन,
छिड़ा विगत में भूत-आगत में संघर्षण,—
स्वाभाविक अब आर्थिक सामाजिक परिवर्तन!—
स्वर्ग प्रतीक्षा व्यर्थ—वह करे धरा पर विचरण!

समाधान संभव है अब भी मन के स्तर पर
यदि प्रबुद्ध मन निज कर में लें भू शासन को!

या फिर कटु संघर्षण, रण, विनाश भी संभव,
दो दृढ़ शिविरों में विभक्त संप्रति बल वैभव,
पर विश्वास मुझे, न ध्वंस ढाएगा मानव—
विश्व सभ्यता का समस्त जो दारुण परिभव!

आस्था ईश्वर पर मुझको,—उससे सब संभव,
वही बदल सकता बहिरंतर जीवन मन को,—
काल सृष्टि का साक्षी—प्रगति विकास प्रवर्तक,
ईश्वर गर्भित जानो उसको शाश्वत-क्षण को!

## पंखड़ियाँ

फूल फूल हैं!
ये केवल पंखड़ियाँ कोमल,
नहीं पुष्प का सा श्री सौष्ठव,—
रंग गंध रज के मुरझे दल!

बिखर गई स्वर्गिक स्वर संगति
रहा न वह अंत संयोजन,
अब न पूर्णता के ये दर्पण,
पृथक् पृथक् जीवन क्षण निष्फल!

मर्मर घोष नहीं अब अंतर,
अनिमिष दृष्टि न छूती अंबर,
कहाँ झुलाता अब मलयानिल?
वृंतच्युत, घायल अंतस्तल!

मधुपों से न अधर रस चुंबित,
साँसों से न समीरण सुरभित,
केसर अलक न हिम जल गुंफित,
तार तार शोभा का अंचल!

अब ये फूल न बन पाएँगी,
मिट्टी मे घर मिल जाएँगी,—
पखडिया से फूल न बनते,
फूलो के ही पखडि-करतल!

फिर भी ये हो सकती सार्थक
मधुर प्रतीक्षा मे रत अपलक,
नव मधु पथ मे पलक पावडे
बिछा,—फूल बन सकती अविकल!
ये प्रसून पखडिया कोमल!

## एक सत्

कवि के मन को जिस प्रकार छूता जग जीवन
वह उसमें संगति भर स्वर-बिम्बित कर देता,
शब्दों को वह सौंप जगत् की व्यापक पीड़ा
अपने मन की गोपन व्यथा सहन कर लेता।

हृदय शिराओं में बहता जो जीवन शोणित
उसको साँसें आ जा शोधित करती रहतीं,
भाव-व्यथा प्रेरणा-किरण पा गीत-स्पर्श की
लोकोत्तर सुख बन जन जन के मन में बहती।

केंद्र परिधि दोनों ही अविकल अंग वस्तु के,
आस्था केंद्र, परिधि जग जीवन मानव मन की,
बहिर्भ्रांत खो जाए नहीं जगत् मरु में नर
आवश्यकता उसको आत्मिक अवलंबन की।

अमृत स्रोत रस-आत्मा, जिसकी अक्षय धारा
जीवन संघर्षण में भरती नव संजीवन,
जग प्रिय हो, जन प्रिय हो, भू जीवन भी प्रिय हो
सब से प्रियतर हो आत्मा का सत् चित् आनंद।

सखे, एक ही स्वर में गाता अब मेरा मन,
निखिल स्वरों का स्वर जो, निखिल स्वरों का आशय,
स्वर्ग मर्त्य संगीत स्रोत संवृत जिस स्वर में,
जिसके बिना जगत् जीवन दारुण भय संशय।

## आत्म धुरी

छोटी मिट्टी के लट्टू सी धरती
नाचा करती
दिग्नि के करतल में नित,
आत्म सत्य की परिक्रमा करती!'

देखा करता मैं उसका आनन
श्यामल हास्य स्मित,
देखा करता भाव प्रवण मन
सागर सा आंदोलित!

देखा करता रजत किरीट
हिमालय से शिखरों का
देखा करता
अंधकार से भरे
अचेतन प्राण गह्वरों को!

मिट्टी के लट्टू सी धरती
अब गणित के क्षुद्र बिंदु सी
पर अपने में गहन सिंधु सी,
उसका भी है अपना जीवन
विधि जिसका करता संचालन!

वृष्टि अवर्षण
झंझा उल्का
भूमि कंप आ
रक्त अस्थि नित करते मंथन,—

अपने उर में
कोटि चराचर
जग जग उर्वर
करती धारण!

वह तटस्थ हो इन सबसे—
लट्टू सी नाचा करती नित
अपनी ही गति में—
बँध
भ्रमा की स्वर संगति में!

देख मुझे भव भय से
जर्जर कातर,
सत्यपरा धरती दिग् हर्षित
शस्य हरित आँचल सँभाल कर
कहती—
जग जीवन धारा अनादि से बहती!

तुमको यदि अपना जीवन दे
कुसुमित जग को करना
औरों का दुख हरना—

आत्म धुरी में रहो सहज स्थित,
जग जीवन को भी
अपने में करो समन्वित,—

तभी जगत् को तुम यत्किंचित
अपनी उर-निधि दे पाओगे!—

अपने जीवन में भी इसमें
साथकता पाओगे!
आत्मच्युत हो
अग जग से निगले जाकर तुम
निश्चय मन में पछताओगे!

। १००

भाव मूल्य होते परिवर्तित
नव रचना प्रति जीवन अर्पित,—
मिटता जग का [illegible] जाता
उर अन्तस्य का बनता दर्पण!

आज को अब वह अविदित क्षण
छँट जाएँगे भव संशय घन,
विश्व क्षितिज पर दीखेगा स्मित
ज्योतिर्मय भावों का आनन!

## आत्म दर्प

मेरी रचना चुभती कुछ को
सूक्ष्म काय वे करती अपना
असदिग्ध अब मेरा अतर
एक सत्य स्वर मुझको जपना।

मुझे छेडते जब, वशी सा
गा उठता मेरा तन्मय मन,
विश्व विसगति में नव सगति
भरता म—जग के प्रति चेतन।

सजन कम म रोक न सकता
यह मेरे स्वभाव का दपण
म हँसता—जब कहते सुनता
लिए हुए म उनका आसन।

शत्रु मित्र का हो स्पधा वश
बनता नर अपना ही भक्षक,
विमुख प्रेम के होता जो जन ,
उसका ईश्वर ही रे रक्षक।

साध्य सत्य का पाना जिसको
उसको होना पडता अर्पित,
मूख सत्य को पा भी सकता
किन्तु नहीं पा सकता गर्वित।

वत्र दृष्टि को सीधा भी ता
टेढा ही दिखता सब जग में,
वह अपने ही से टकराती
राडे भले न भी हा मग में।

अह दप मद का प्रक्षेपण
नही मनुजता का शुभ लक्षण,
क्षुद्र अहता मदा चाहती
नहद निम्ब दिखलाए दपण।

मत्य कथन का रिक्त दप ही
पग पग करता मिथ्या भाषण,
सौम्य, विनम्र, उदार चरित का
मानव मन करता अभिवादन।

## विद्युत् युग

आज अचानक
　　बिजली चली गई जब
मुझको
　　शरण मोमबत्ती की लेनी पडी
　　　　　　विवश हो।

तन्वी लौ का
स्वर्णिम सौम्य प्रकाश भर गया
　　　चुपके मन में।
स्वप्नों का ससार सहज
　　साकार हो उठा नीरव क्षण में।

मुग्ध शलभ का प्रेम,
　　दग्ध जीवन आकाक्षा,
　　　　　आत्म समर्पण,
नाच उठा आखों के सम्मुख
　　मृत्यु शयन को उन्मुख।
प्रेम त्याग ही का हो दर्पण।

सहज शीलमय
　　मानवीय सी लगी मुझे लौ,—
कनक किरण मडल ने

मैं उन्मन सा रहा सोचता—
क्या माटी दुबली पतली लौ
बिजली की जगमग फुहार में—
स्त्री सी नत मुख
खड़ी सामने,
लाज लता सी
कंपित तन मन
स्नेह सने!

क्या बिजली के
दिव्य प्रशस्त
व्यापक प्रकाश से
श्रेष्ठ मोमबत्ती
या दीपशिखा हो सकती?
भू मानव की पथ दर्शक
बन सकती जग में?
काटा के भू जीवन मग में?

नहीं, नहीं,—
यह मोह मात्र
अभ्यासी मन का—
जपता रहा रूढ़ि का मनका!
विद्युत का हीरक प्रकाश ही
ज्योति दूत जन-भावी जग का,
रही साधना का भी प्रतिनिधि,
आत्म प्रबुद्ध प्रतीक
महत् वैज्ञानिक युग का!

दीपक का युग गया!
मोह उसका स्वाभाविक
पर, विवेक करता न समर्थन
दीप शिखा का,—
शयन कक्ष में
कंपित वक्ष, विनत सिर
शोभा दे वह अब भी!
विद्युत किरणों से दीपित अब
सभ्य जगत की निशा—
वही अंध तम का युग घाती,
स्पर्श मात्र से उसके
अग जग में उजियाली होती!—
यंत्र शिराओं में बहता अब
उसका अति गति प्राणित—
पार लगाता निमिष मात्र में
जन जीवन का वाहित!

प्राण शक्ति की प्रतिनिधि विद्युत
द्रुत से द्रुत,
यह मिटा सकेगी भूत निशा?
वह स्थूल शक्ति
क्या मानवता का
मना सकेगी नयी दिशा?

मुझे नहीं सन्देह
सहायक होगी यह भौतिक विकास में—
मनुष्यत्व खोजा जा सकता
—पर मन—
मानव आत्मा के प्रकाश में!

## स्त्री

मुझको लोहे का तार बनाया स्रष्टा ने
    तुमको झंकार बनाया मेरे अंतर की,
मैं समझ नहीं पाता था अपनी सार्थकता
    तुम देह सहज धर लाई भाव मधुर स्वर की!

मैं बाँध न पाया तुम्हें पूर्ण स्वर-संगति में,
    मेरी अक्षमता,—मन मुझसे कहता निश्चय,
झंकार मात्र तुम रहीं हृदय की चिर अमूर्त,
    बन पाई नहीं प्रणय प्रतिमा शोभा-तन्मय!

संगीत नहीं फूटा, उर को कर रस विभोर,
    स्वर रहा समाया प्राणों ही में मात्र-मौन,
गूँजता रहा कलियों को घेर हृदय-मधुकर
    चुन पाया म[illegible]ज नहीं उनमें प्रेयसी कौन!

श्री शोभा रतिका तुम, मुझको अस्पृश्य रहीं,
    बनी थी रस-अवयव मांसल रूप सी कोमल,
नव भाव रूप धर छूती स्वप्ना के उर को
    हो उठते प्राण अनन्य स्पर्श पाकर चंचल!

तुम वाद्य मधुर होती—मन के तारों को छू
मैं अपनी लय में उन्हें बाँध लेता सुखमय,
यदि तुम स्वप्न भी होती, परिचित मैं उनमें
प्राणों से कर लेता उनका अक्षय परिणय!

तुम मलय अनिल सी आ, रोमांचित कर जाती
साँसों की सौरभ से छू आकुल अंतस्तल,
ज्योत्स्ना सी छिपकर स्वप्नों में नहला जाती
फहरा सुषमा की शीतल रुपटा का अंचल!

सुंदर स्त्री भी हो जग में, मन पुलकित रहता,
घेरे रहतीं स्मृति छायाएँ उर को अनुक्षण,
तुम सजन हृप के पख खोल गाती चुपके
भावी के श्री सुख स्वप्नों से भर जाता मन!

## अर्पित जीवन

सध जाता जब तार हृदय का
रम तन्मय हो
गाने लगते प्राण स्वयं ही
नीरव स्वर में।

जग जीवन के कोलाहल को
लांघ मौन में
सूक्ष्म स्वप्न-झंकार
फूट पड़ती अंतर में।

वाद-मुक्त से हो उठते क्षण
नभ सा विस्तृत राग-द्वंद्व मन,
हार विजय सी
विजय हार सी
लगती जग जीवन-सागर में।

दूर न कुछ भी लगता मग में,
निकट सभी के मैं अब जग में,
मन अपने में डूब
तैरता निर्भय
सुख दुख के सागर में।

आस्था में पा नव सजीवन
श्रद्धा के पथ पर चलते क्षण,
अर्पित मन जीवन के हित
अब भेद न कुछ
बाहर भीतर में।

आएँ आएँ विघ्न चराचर
फूलों-से मुसकाते सुंदर—
जग के जन मन में
खोया भी
रहता मन अपने ही घर में।

सुख दुख उर में आते जाते
धूपछाँह दोनों ही भाते,—
मैं हूँ सुखी
तुम्हारे नाते
किसमें क्या मानूँ अंतर मैं।

## जीवन उल्लास

चिडिया गाती मधु कलरव भर
छाया गाती कप कँप निस्वर,
रवि किरणों ज्योति स्पर्शों से
गाती मन को छूकर।

सभी वस्तुएँ गाती निश्चय,
क्या तुमको सुन होता विस्मय?
मत्र जग मे वहने को आकुल
क्यो रस आतुर अतर।

मर्मर करते रहते तरुदल,
गध अनिल फिरती स्मृति चचल,
गूढ सृजन उल्लास सिहरता
सबके उर में थर् थर्।

आओ, हम तुम भी मिल गाएँ,
अपने मन के भेद भुलाएँ,
पथक् रहें हम, एक साथ भी,
प्रेम प्रतीक चराचर।

मुये मौन नीलिमा टरानी,
ज्योत्स्ना स्वप्ना में नहलानी,
म मत्र मे हो परिचित जग में—
एक मत्य है मा स्वर।

## सृजन दायित्व

कोयल जब गाती वसंत में
नया फूल या
खिल उठता उपवन में—
विश्व प्रकृति तब
सृजनोल्लास
प्रकट करती उस क्षण में।

कलाकार साहित्यकार का
क्या दायित्व भला हो सकता
इससे सुंदर?—
शोभा की अंगुलि से छूकर
वह संगीत पिरोता जन-मन में।

खोल परिस्थितियों के बंधन
वह रसमग्न चेतना करता तत्क्षण,
अतिक्रम कर युग की सीमाएँ
अतिक्रम कर जग जीवन।

वह सौंदर्य प्रकाश प्रेम
आनंद सार के द्वार खोल कर
आत्मा में साक्षात् कराता
निखिल क्षुद्रताओं से ऊपर
सुख दुख के सागर तर।

सहज वोव से उन्मेषित वह
तर्क बुद्धि के क्षितिज लाघ
उडता वाणी के राजहस सा
छू चैतन्य दिगतर—
मानव आत्मा
भूजीवन को लाकर
नित्य निकटतर!

और कौन दायित्व लादता
जग उसके कधा पर?—
मनुष्यत्व का प्रतिनिधि बन
देता समग्र वह दृष्टि विश्व को,

राजनीति या अर्थशास्त्र
या सामाजिकता में भी
नयी प्रेरणाएँ भर!

कोकिल जब गाती मधुवन में,
नया फूल या
खिलता धरती के आगन में—
स्रष्टा तब रस मग्न
निखिल दायित्व मुक्त हो,
शाश्वत को बाँधता
सृजन के क्षण में,—
भू जीवन में,
मन में!

## भविष्य वाणी

मैं छाया में बैठा उस दिन
    धरती पर कुछ आड़ी तिरछी
    रेखाएँ उँगली से यों ही खींच रहा था—

और सोचता सा कुछ मन में
    बीच बीच में आँखें ऊपर खींच रहा था।

        इतने में कानों में सहसा
            नूपुर की ध्वनि पड़ी मनोहर—
        आँखें खोलीं, सामने देखा
            एक [illegible] को आते श्रीसुंदर।

            [illegible] अगठित, पीन [illegible]
            रक्तिम आनन, सहज लजाए
            [illegible] [illegible] हरित साड़ी पहन
            अंगों में [illegible] रहे गहने—

उठ [illegible] [illegible] मैंने निहार
    हाथ [illegible] [illegible] में—
[illegible] में [illegible]
    [illegible] स्मिति मधुर अधर में!—

कहती हो,
वाँचो तो पंडित, मेरा करतल !
सत्य हस्त रेखा विद्या
या केवल वाग्छल ?

सुनती हूँ,
तुम सामुद्रिक हो,
मंत्र सिद्ध हो,
अपने मित्रों में प्रसिद्ध हो !

मैं हूँ धरती,
सूर्यदेव की
परिक्रमा नित करती !

मेरा भाग्य पढ़ो,
भविष्य बतलाओ मेरा,—
दुर्गम विषम परिस्थितियों ने
मुझको घेरा !

मन को कातर स्वर ने छुआ,
हृदय विद्रवित हुआ !
वयःसंधि में शोभित प्रिय तन,
खिंच जाते थे सहज नयन मन !

फूलों का करतल
मैं थामे रहा देर तक,
उसको निरखा परखा मैंने
घटा अपलक !

जन-भू जीवन का विकास
नाचा आंखों में

विश्व सभ्यता का इतिहास
हृदय में छाया,
उड़ स्मृति के पाखों में!

बोला, मैं तुम पर हूँ मोहित!—
कहा, हटो, मत छेड़ो मुझको,—
गालों में द्रुत दौड़ा शोणित!

मैं बोला, यों मत सकुचाओ,
तुम हो जनगण मन की प्यारी,
प्राणों की प्रिय शोभा प्रतिमा,
मुग्ध किशोरी नारी!

मैं करतल पढ़ चुका ध्यान से,
सुनो, भविष्य बताता हूँ
निज गुह्य ज्ञान से!

अभी तीन रेखाएँ
कर में निकली केवल,
जन प्राण मन की द्योतक
जन जीवन सबल!

आयु बुद्धि भावना नाम भी
इनके निश्चय
भू जीवन
इनके ही चिर सुख दुख का
विनिमय!

एक और रेखा
प्रकोष्ठ से ऊपर ऊपर
अभी मध्य अंगुली छूती—
दीर्घ ऊर्ध्वतर!

भू जीवन को कर
शाश्वत सौंदय प्रेममय
कीर्ति तुम्हें देगी—
आनद, प्रकाश अनामय।

अत स्थित होगी तुम
अधिक वहिर्मुख विस्तृत,
यही तुम्हारी भाग्य रेख
वतलाती निश्चित।

साथक होगी
सूय देव की प्रिय परिक्रमा,
स्वग शिखर चुबी होगी
भू मानवता की महिमा।

वाणी प्रमुदित—
वाह्य क्षितिज भर छुआ
अभी मानव ने निश्चित
अतरिक्ष युग कर
भू मन मे नव उद्घाटित।

तुम कहते,
अन शिखरो पर भी विचरण कर
स्वग विभव वरसाएगा
भू पर प्रबुद्ध नर।
धयवाद करती मैं नत सिर
आऊँगी तुमसे मिलने फिर।

## मधु पखड़ियाँ

जो बिखर गईं मधु पंखड़ियाँ
वे बन पाएँगी फूल न अब
अब वृन्तमूल से—मारुत में
हँस हँस पाएँगी झूल न अब!

सौन्दर्य-वृत्त में संयोजित
वे दृग न करेंगी आकर्षित,
निज उर-सौरभ भू नभ में भर
हो पाएँगी न स्वयं उपकृत!

मधुपात्र न बन सकते करतल,
अलि को क्या देंगी आमंत्रण?
उड़ जाएँगे प्रिय रूप रंग,
कुम्हलाएगा कृमि सा रज तन!

स्वर संगति से विच्छिन्न विवृत
अस्तित्व किसे लगता शोभन,
मतुल्न चित्त जब खो देता
प्रतिकूल उसे लगता जीवन!

फिर भी वे चाहें तो सार्थक
हो पतित उपेक्षित जीवन क्षण—
बन पथ पाँवड़े बिछे प्रणत,
जीवन नव मधु को कर अर्पण!

## सूर्य बोध

म जब छोटा था, किशोर,
तब देख प्रकृति मुख
अनजाने
हो उठता था सुख मे विभोर !

आगन से, तरु शिखरो पर से
मन उडता चुपके अबर मे,
म मौन शाति में खो जाता
तिर रहस नीलिमा के सर मे !

कोमल पखो का स्वप्न नीड
प्रिय नील शून्य था मन का घर !

निस्मन हो जाता बाह्य विश्व
नामो रूपो का वस्तु जगत—
मन मुक्त नील में होता लय,
वह भी करता मेरा स्वागत !

म मूल प्रकृति से शक्ति खीचता
नीड शाति मे प्राण सीचता,—

मेरे मन का सूर्य
देखता बाह्य सूर्य को
अपलक लोचन !—

## सूक्ष्म वोध

मै गाव न पाऊँगा तुमको
शब्दो की वेणी कर गुम्फित,
साकार नही कर पाऊँगा
अतर के तारो मे झकृत !

शत भावो बिम्बो मे न कभी
बँट पाएगी सुषमा अतुलित,
छवि बिंदु समा पाएगा क्या
जग जीवन सागर में विस्तृत ?

फट पडता बादल अचल जब
तुम विद्युत गति करती नर्तन,
करवट लेती रस ऊर्जा जब
गिरि वन भू में जगता कपन !

भ्रू इगित भर से गुह्य व्यथा
गीतो में ही उठती छदित,
मधु स्पर्श मात्र मे मम व्यथा
पा जाती स्वर लय गति अवथित !

सौंदर्य अनावृत हो जाए
यदि कला करे तुमको अंकित,
वह डूब लाज में तुममें ही
हो जाए निस्तल अंतर्हित ।

तुम उर के वातायन पर आ
दिखला जाओ गुंठित आनन,
कृतकार्य सहज इतने ही में
हो जाएगा जग का जीवन ।

तुम हो, इसका ही सूक्ष्म बोध
बनता उर का अक्षय संबल,
भव जीवन संघर्षण में भी
बजती रहती अश्रुत पायल ।

स्मृति भी न जान पाती अब तो
हो उठता अंतस्तल तन्मय,
उर नम्र आत्म रक्षा के हित
तुमको अर्पित—इससे निर्भय ।

## जयनाद

शुभ्र नग्न बन गई
    क्रोध के हाथों में अब
मेरी वीणा
    दु सह मात्विक मयु से भरी !

वह न मधुर भाग की मुरली
    अधर श्वास-मधु, पीने वाली
    प्राणों के वासों की हरी !—

हृदय चीर कर फूट निकलती
    उससे रहस वेदना गहरी,
क्या न नाद सुन जाग उठेगी
    मोह घोर चेतना जहरी !

मेघा में विद्युत् सी पागल
    यथा ज्वाल प्राणों मे लहरी—
जो शंख ध्वनि, हृदय गोचर
    अपनी बात जगत् मे कह री !

प्रतिध्वनित हो रो पल में
    अन्तर का प्रसार तू भर री,
रो अकूल, जीवन सागर की
    अतल गहनताओं में बह री।

लाँघ पथ के अवरोधों को
    जग की क्रुद्ध चुनौती सह री,
देखें जन, युग ध्वंस ढेर पर
    विजय वैजयंती नव फहरी।

## नम्र

तृण का क्या कर लेगी आँधी ?
हहराती आएगी कुछ क्षण
फुफकारेगी पटक पुच्छ फण,
गहरे मूल जमाए पादप
ढह जाएँगे। काँपेगा वन।
सब का मुँह भर देगी आँधी।

सौ सौ अहि लोटेंगे भू पर
रस्सी से बट बट दिग् धूसर,
मथित होंगे फेन जिह्व जल,
उखड़ जाँय संभव उड़ भूधर,
अंबर-पथ तर लेगी आँधी।

लघु तृण झुक जाएगा सम्मुख
पथ पर बिछ जाने को उन्मुख,
भयवश नहीं, शीलवश लज्जित,
शक्ति दर्प प्रति फेर सौम्य मुख,—
उसका क्या कर लेगी आँधी।

भव संकट में रह वह अक्षत,
हरा-भरा, पददलित में उन्नत,
शक्ति प्रदर्शन में अपराजित
रहा नम्र, आत्मस्थित, उद्यत,—
यही कह गए ईसा गांधी।

यह अब उन शिविरों में पतित,
अस्त्र शस्त्र करने में अर्जित
शक्ति शक्ति से विजित न होगी,
मानवीय ब्रह्मास्त्र अपरिचित !
जिसने ने तव हिंसा बाँधी !

## आकांक्षा

मुझे ताजगी,
नव जीवन उल्लास चाहिए,
जड़ यथार्थ की टहनी में
चेतन स्वप्नों का वास चाहिए!

अतिक्रम करता रहता नित
यथार्थ अपने को,
मूर्तिमान करता
अमर मन के सपने को!

मुझे स्फूर्ति,
मन प्राणों में अभिलाष चाहिए—
विश्व ह्रास विघटन में
नया विकास चाहिए!

कौन सत्य है, कौन स्वप्न
पीछे जानोगे,
क्या यथार्थ आदर्श
मन ही पहचानोगे!

मुझे सत्य शिव सुंदर,
    शान्ति, प्रकाश चाहिए
पतझर वन में हँसता
    नव मधुमास चाहिए।

भोग त्याग में
    मुझे त्यागमय भोग चाहिए,
    कार्य व्यस्तता में
    ध्यानस्थित योग चाहिए।

युग के भौतिक पिंजड़े में
    बंदी जग का मन—
मुझे चाहिए
    आध्यात्मिक नव लोक जागरण।

भंगुर जग में
    ईश्वर का अधिवास चाहिए
शाश्वत का चिर स्पर्श,
    शक्ति, विश्वास चाहिए।

## प्रतीक

कैसे रंग उभरते ये
आँखों के सम्मुख—
रंगों के थक्के
प्रतीक भर
दृग लेते हर,—
कहीं न इनके
आँख कान मुख !
केवल हँसते रंग
हृदय को करते मोहित !

कौन चेतना
अभिव्यक्त करती अपने को !
मैं कैसे समझूँ
रहस्यमय
मन के इस जाग्रत सपने को !
इन रंगों में शब्द न अर्थ
भाव भर केवल—
ये करते मन प्राण उन्मथित !

खोज रहा मैं
यह प्रकाश की किरण
मोहती जो मेरा मन,—
रगों में जा कहती प्रतिक्षण
मुझसे संवेदना में गोपन
उर की बातें अनकथित।

## कश्मीर

धरा स्वर्ग कश्मीर, प्रकृति का मधु सौंदर्यस्थल,
इंद्रनील नभ, मरकत हरित धरित्री हास्य श्यामल!
गाता सर सरिता झरनों में गिरि का गीत-मुखर जल,
फूलों के रंगों की घाटी,—हँसता मुक्त दिगंचल!

केसर की रोमांचित खेती अपलक रखती लोचन,
मीलों में बहता अनाम गंधों से गुँथा समीरण!
पहलगाँव, गुलमर्ग मोहते मुग्ध यात्रियों के मन,
निश्चय ही उन्मुक्त प्रकृति का यह प्रिय क्रीड़ा प्रांगण!

बाहों में सी धरा उठाए नील नयन अंबर को,
ध्यानावस्थित रखते निर्जन गिरि तन्मय अंतर को!
शोभा से दिग् विस्मित हृदय नमन करता ईश्वर को,
मन देता धिक्कार उर्वर भूमि-से दरिद्र हत नर को!

मुझे स्मरण आती फिर ग्राम्या प्रकृति ग्राम्य यह जीवन
यहाँ अकेला मानव ही रे अभिशापित, जीवन-मृत!
भू विकास युग संगत, नव जीवन मूल्यों से प्रेरित
धरा-स्वर्ग के योग्य यहाँ नव मानवता हो विकसित!

## सौन्दर्य स्पर्श

सौदय लोक का वासी मन
गूथा करता शोभा वेणी
शोभा आत्मा की सार सुधा,
शोभा भू-स्वग सलभ श्रेणी।

जो धम न दशन दे सकता
कवि देता वह रस सत्य अमर,
चतय अमृत, प्राणो का मधु
शब्दो के दोनो में भर भर।

पहुँचाता शोभा का प्रकाश
वह पण कुटी, घर आगन मे,
उर का पावक वितरण करता
रस अजुलि भर जन के मन मे।

निज अमर-स्वरो के स्पर्शो से
भरता जग-जीवन के कटु व्रण,
दीपित करता अवसाद तमस
प्रेरणा किरण से छू नूतन।

स्वर्गिक सपद् ने खोल रुद्ध
वह जन भू उर के वातायन
भावो के शोणित मे करता
जडता के शव को नव चेतन!

सौदय साधना कृच्छ्र महत्
जीवन के विप को बना अमृत,
सह घृणा दश, दे सहज प्रेम,
पशु को करना होता सस्कृत!

## सयुक्त

जागो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—
[illegible] [illegible] [illegible] गाता [illegible] [illegible]।

जो [illegible] [illegible] की [illegible] में
जो [illegible] [illegible] नभ में [illegible]—
[illegible] जगा [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] मन [illegible] [illegible] जगत्।

प्राणों [illegible] सागर [illegible]
विद्युत्स्पर्शी [illegible] रजतोज्वल
[illegible] रोओं [illegible] कूणों में
[illegible] नव [illegible] हृदय में [illegible]।

नव [illegible] नित जग जीवन को
करती मन प्राणों को मोहित,
जड जग का मुख भी सजन शक्ति
नव भावों से करती अंकित।

१२५

इस नाम रूप जग मे रहना
उठ नाम रूप से ऊपर नित
अत स्थित रखता मानव को
आनद केन्द्र से सयोजित।

तृण तरुओ के जग के मुझको
सदेश नित्य करते प्रेरित
खग मृग मुझसे बातें करते,
सब के आशय से उर परिचित।

सगीत एक ही व्याप्त मौन
तृण तरु जीवो के अतर में
वस्तुएँ सभी पाती निस्वर
अभिव्यक्ति उसी अविदित स्वर में।

बासी पड सकता जगत् नहीं
सुख सृजन चेतना का विम्बित,
सब स्फुट सा लगता प्रतिक्षण
अविरत शाश्वत के प्रति अर्पित।

उर केन्द्र-शक्ति से भाव-युक्त
वह का भी करता आस्वादन,
गृह में खोए मानव मन को
दुष्कर होना जीवन यापन।

## आत्म मोह

विष पी, युग सागर का विष पी,
जीवन के प्यासे मन,
शस्य श्यामला सुधा वृष्टि से
तुझे सींचते मरकण।

अतनभ की उच्च वायुओं की
श्वासें पी पावन
विष प्रभाव से मूर्छित मन में
भर फिर नव संजीवन।

सुरमा सा मुह फाड व्यक्ति
जो करते निज विज्ञापन
मशक रूप धर, मोह सिंधु तर
गोपदवत तू अनुक्षण।

आत्म मोह यह, दैत्य रूप जब
धरता दारुण भीषण
निज अवगुण भी गुण लगते तब
पर के गुण भी दूषण।

गाल बजा नर अपने ही से
होता गर्व-पराजित,
अपने को गौरव देने में
खोता गौरव अर्जित!

यश लिप्सा भरमाती,
कुठाएँ फट पड़ती बाहर,
मुट्ठी जब तक बद तभी तक
नर के हित श्रेयस्कर!

आत्मदर्प में स्फीत
उसे लगते जग में सब वामन,
वाह वाह करते मुख पर
हँसते मन ही मन सब जन!

खुल पड़ता वस्त्रावृत
खूसट हाड मास का पजर,
रिक्त आत्मश्लाघा में लिपटा
व्यग्य चित्र अपना नर!

भग्न अहता पीडित बौद्धिक
स्नायु पिंड श्लथ केवल,
अहभाव से जजर,
बाहर से भी भीतर दुर्बल!

दे यथार्थ की सतत दुहाई
रोता वह जग वचक,
अधकार का मौन उपासक
बन प्रकाश का निन्दक!

नास्तिक वतला अपने को
वनता आधुनिक निरतर,
दकियानूसी आस्तिक भीतर
पूजा करता पत्थर!

जटिल जगत, मानव स्वभाव
उसमें भी जटिल असशय,
सत-समद्ध, विद्या विनम्र वन—
जग जीवन प्रति सहृदय!

## मेरी वीणा

मेरी वीणा भाव युद्ध था
शंख बन गई मेरे कर में,
मृदु झंकार प्रबुद्ध नाद बन
फूट रही जन मादन स्वर में।

मैं क्या लिखता, नहीं जानता,
बिना लिखे मानता नहीं मन,
मुझे लगा, आते जीवन में
प्रेरित शोभा पल सृजन-क्षण।

मुझे देख उन्मेष रश्मि स्मित
स्वयं सहम जाता यथार्थ जग,
उसको लगता, व्यर्थ गडाए
वह जीवन के कदम में पग।

ज्यों असाध्य रोगी जी उठता
पाकर रस ओषधि सजीवन
मरणोन्मुख सभ्यता मांगती
मुझसे चित्स्पर्शी नव दर्शन।

वहिर्भ्रांत जग को देता मैं
अंत केंद्र—स्वत आलोकित,
नयी दिशा देता चेतस को
नये मूल्य मे कर अभिप्रेरित!

भले मेढकों दादुर ध्वनियों में
मुखरित हो युग का आंगन,
मंद्र मेघ गर्जन मुखर ही
भाव पल्लवित होगा जन वन!

किसकी प्रतिछवि—नहीं जानता,
मेरा मन नव युग का दर्पण,
जन भू मानवता को मिलता
इसमें बिम्बित भावी आनन!

वह कोरा परिहास मात्र
भंगुर गुटधर्मी नव लेखन का,
विना स्पर्श पाए शाश्वत का
आंचल पकड़े मिटते क्षण का!

विश्व ह्रास विघटन के युग मे
अस्वीकृति ही उसको भाती,
जग विकास का पथ,
मिटना ही इसमें विघटन की क्षण
थाती!

मेरी वीणा
जीवन रण का शंख बन गइ
मेरे कर में—
मानव उर फिर रण क्षेत्र,
गाता मन नव गीता के स्वर में!

मैं स्वतंत्र चेता, युग वेत्ता,
सृजन चेतना प्रेरित,
नव निर्माण धरा पर चलता
जीवन मन आंदोलित।

यह यथार्थवादी युग
हँसता मैं जिस पर मन ही मन—
अश्रु स्वेद श्रम का संघर्षण
बतलाते दुर्बल जन।

तिल का ताड़ बना वे
करते अहं दर्प विज्ञापित
जग का हो दायित्व अखिल
उनके कंधों पर स्थापित।

भव यथार्थ आदर्श उभय
जीवन द्रष्टा के रे कर
दोनों को संचालित करता
वह उनमें रह ऊपर।

जग जीवन का स्वप्न
छूटता जाता मन से प्रतिक्षण
कवि ऋषि दृष्टि सुपर्ण अनश्वर—
जगत भोग रस साधन।

सत्य मर्त्य जीवन पदार्थ में
दिखलाई देता तव नूतन
जब पद अर्थ खोलती तुम नव
सूक्ष्म हृदय में भर संवेदन।

बहिर्जगत शव, स्पर्श तुम्हारा पा
जी उठता बन नव चेतन,
मृत्यु चिता लपटों में सुनता
नव जीवन स्फुलिंग का स्पंदन।

ओसों के मन में हँस उठते
    मेरे अंतर्मुख के स्मित क्षण,
निर्जन निशा-पट में खुल पड़ते
    तारा-से मेरे दुख के व्रण।

निखिल विश्व में लगता मुझको
    मेरी ही लघु सत्ता प्रसरित
दर्पण भर यह बाहर का जग
    जिसमें मैं नग-निभ प्रतिबिम्बित।

मेरी संवेदना चन्द्र बन
    भू का तम करती आलोकित
आकांक्षाएँ जुगनू सी उड़
    पथ खोजतीं नित्य अपरिचित।

तीर्थ स्नान मैं रागद्वेष की
    ज्वाला में करता जीवन की,
अग्नि परीक्षा देता नित
    आक्रोश वह्नि में तप जन मन की।

आत्म कथा मेरी मेघों के
    दया विद्रवित उर में अंकित,
युग समुद्र मंथन से ये घन
    उमड़े मनोगगन में निश्चित।

मुझको रे प्रिय जन भू जीवन
    जन मानवता होगी विकसित,
आत्मकथा का उपसंहार
    सम्वद आशाप्रद तुम्हें समर्पित।

सृजन चेतना के निर्मम गा
जग चिर साक्षी दर्पण,
भावों, वीणा, ऊर्मियों का
चलता रहता संघर्षण।

इसमें डूबा, पात्र उतरता
जैसे निज अभिनय में—
दर्शक रहो तटस्थ मात्र हो—
चुभे न शूल हृदय में।

सत्य जगत जीवन निश्चय,
शाश्वत विकास का प्रांगण,
ईश्वर प्रति आस्था यदि—
जग जीवन का करो समर्पण।

## शख ध्वनि

मन के वन में आग लगाती
यह गभीर शख ध्वनि मेरी,
युद्धोन्मुख हत जगत के लिए
इसे न जन समझें रण भेरी।

वहीं खो गया वस्तु जगत् के
जगल में मानव—लगता दुख,
बाहर के उजियाले तम में
कहाँ खोजता वह अपना सुख।

वस्तु जगत में अपनी ही
आभा की छाया देख प्रतिफलित
दौड़ रहा वह कस्तूरी मृग सा
अपने ही से हो वचित।

मनुज सभ्यता अनति दूर
लेगी नव मोड़—न मुझको सशय,
घृणा द्वेष की नहीं,
विश्व में दया क्षमा ही की होती जय।

सघपण के चक्रो को
स्नेहाक्त स्नेह मे करना निश्चय,
अपनी ही भीपणता से अव
स्वय पराजित अणु वल का भय!

खोलो उर के द्वार मनुज,
विस्तार वहा भुवनो का अगणित,
चरण धरेगी मनुज सभ्यता
नयी भूमि पर अतर्दीपित!

जीवन का मुख महज मवारो
राग द्वेप रज मे उठ ऊपर—
मनुष्यत्व का प्रतिनिधि हो वह,
शिव सुदर मे शिव सुदरतर!

अश्रु स्वेद के मघपण को
आत्म दप से दे नव गौरव
स्वग न व्यथ वताओ उसको—
अहम्मन्यता का जो रौरव!

प्यार करो धरती को निश्चय,
किंतु न तृष्णा-कदम में सन,
आदर दो जन भू जीवन को
रह विशिष्टता में साधारण!

## क्रांति युग

बहिर्भ्रांत मानव मन को
निश्चय ही अतर्केंद्र चाहिए,
तभी सभ्यता उठ पाएगी
संस्कृति के सित सोपानों पर।
आत्म संतुलन आ पाएगा
विविध परिस्थितियों में जग की,
मनुष्यत्व की परिधि बहिर्जग,
केंद्र प्रबुद्ध-हृदय के भीतर।

सामाजिकता बृहद् बिम्ब
पृथु-उदर जगत्-दर्पण में बिम्बित
मनुज सत्य का,—आत्मा जिसकी
सारभूत सित प्रतिनिधि निश्चित।
सरल नहीं अतर्केंद्रित होना
जन साधारण के स्तर पर,
विजयी होगी आत्मबोध पर
बहिर्मुखी जन-प्रकृति निरंतर।

आज ध्वंस हिंसा संघर्षण के
समुद्र में रक्त स्नान कर
जन मानवता नव ममत्व में
रँगती, क्षुद्र विषमताएँ तर।—

आत्मतुष्ट अब मन सगठन
गत युग के मानव का वबर,
नयी एकता स्थापित करता
युग, समत्व की सुदढ भित्ति पर।

महत् क्रांति युग मनुज जगत
होता आमूल चूल परिवर्तित,
जीवन के स्तर पर अमृत
आत्मा होगी गुण मत प्रतिष्ठित।
वस्तु जगत् भी मानव आत्मा ही का
प्रतिबिम्बित मुख दपण,
भाव वस्तु या जड चेतन
इश्वर के सष्टि साध्य औ' साधन।

## भारत भू

रूढ़ि रीतियों में पथराया
जन भारत भू का जीवन
रेती का सागर।

ज्वार नहीं उठते प्राणों में
शोभा के शशि मुख से प्रेरित,
शक्ति न उर में, जीर्ण पुरातन
पद्धति के तट करे निमज्जित,—
ऊब डूब करता दुरन्त मन
भीतर ही भीतर उद्वेलित।

धर्म विधानों में जकड़ा
जन भारत का मन
पाप पुण्य भय संशय जर्जर।

विगत काल के कंकालों के
पद चिह्नों से तट रेखांकित,
रिक्त मना, मृत निश्वासा की
अध दरारों में भू खंडित,—
शिक्षित नहीं, प्रबुद्ध नहीं नर
शास्त्र पुराणों के गुरु पंडित,

सम्प्रदाय, प्रान्तों में खंडित
एक राष्ट्र जीवन की आशा लगती दुस्तर!

वर्तमान भारत का जीवन
हीन भावना से उत्पीड़ित,
विपुल विदेशों के वैभव से
बौद्धिक रग म्लान आतंकित,—
अपनी भाषा, अपनी संस्कृति
अपना सब कुछ यहाँ अवांछित—
वही सभ्य, भू आत्मा से अनभिज्ञ,
सभ्य पश्चिम की कोरी अनुकृति, अनन्तर!

विघटित होता देश आज,
ज्यों सट भाग्य हत बालू का तट,
द्वेष, विषमता, हिंसा बढ़ती
रुद्ध हृदय के मानवीय पट
स्थापित-स्वार्थ ग्रसित जन नेता,—
सुनता यह स कभी आहट?—

रक्त क्रांति क्या निकट गरजती?—
शांति! बचाए सत्य-राम तप भू को ईश्वर!

## राजू

राजू छोटा सा था जब मेरे घर आया,
दस पंद्रह दिन का ही संभव! बड़े प्यार से
पाला पोसा मैंने उसको,—सच यह, उसने
छीन लिया था प्यार, बिना जाने ही, मुझसे।

सभी जानते हैं बिल्ली का बच्चा कितना
क्रीडाप्रिय होता है। उसने मोह लिया था
मन का मन अपने विचित्र मौलिक खेलों से।
आँगन में चिड़िया की उड़ती परछाईं का
पीछा भागा करता था वह, उसे पकड़ने।

गति का अद्भुत प्रेमी था वह। उसके आगे
उँगली आप नचाएँ वह कौतुक से पागल,
झपट हाथ पर उँगली पंजा में दबोच कर,
उसे चबाता छोटे तीखे दाँत चुभा कर।
कभी उछलकर लिपट पाँव से जाता चपरे
अपनी चपल प्रकृति से प्रेरित—
मुझको रखता घेर अजिर में।

एक बार उस पर मनमोहनी को पाकर वह
बैठा था, फिर खिड़की की ऊँची मुँडेर पर,
घनी मालती लतिका के पत्तों में आवृत।
उसे नहीं देखता कभी जब बड़ी देर तक
मैं पुकारता गज्जू गज्जू, पूसी पूसी की
बार बार रट लगा, (पड़ोसी हँसते मुझ पर)।
वह मुँडेर से बोल तब उसी स्वर में—
छत पर से कूद, म्याऊँ म्याऊँ कर,
अभिनय करने लगा कूदने का आँगन पर।

फिर अवसर पर मैं उड़ा धन की पूँजी
उसे बताना चला छल में। हरि आते
हरि कथा लेता।—गज्जू के भी हैं असंख्य
ऐसे प्रसंग,—जो मुझे स्मरण हैं।

लगा बाद स्थान न था वह गज्जू का मिलना—
जन्मभूमि में माया, भाभी की ममता में,
धारी के रस्ते की घाटी के अन्दर छिपा।—
सभी मनुष्यों ताल-ताल थी न्यारी गाथा।

अगर गिलहरी चचल लहरी जतु-जगत् की,
बिल्ली चटुल भवर—जो कुछ न मिले तो अपनी
पूछ पकड कर, स्वय नाच सकती पागल सी।

चूहे को वह जिस कौशल से मारा करता
उससे उसकी छलबल भरी चटोर प्रकृति का
बोध सहज हो जाता। बडी कुशलता दिखला
विधि ने बिल्ली की रचना की सब जीवो में।
उस पर अपनी सृष्टि-कला अवसित कर सारी।

कैसी श्री सुकुमार लचीली देह उसे दी,
कितनी सुदर चित्र लिखी सी मुद्राओ में
सोने की प्रिय कला, स्वच्छ तन रखने की रुचि,—
दूध मलाइ आदि व्यजनो का प्रेमी वह।

एक बार वह अर्ध रात्रि को खाने आया,
तीन बजे होगे, पद्रह फरवरी रही तब,
जाडे के दिन, मैंने खोल किवाड, उसे
कमरे के अदर गोश्त खिलाया,
दूध पिलाया,—सोचा अब वह कुर्सी पर
जाकर सोएगा—बद कर दिए द्वार—किंतु वह
बार बार गुर्रा कर, अपना रोष प्रकट कर
पजे से खोलने लगा पट, म्याउ म्याउ कर।

मौत नाचती होगी उसके सिर पर।—मैंने
जाने दिया उसे। वह बडी स्वतत्र प्रकृति का
ढीठ किन्तु स्नेही बिल्ला था, औ' पडोस में
उसकी थी ससुराल बडी—यह बहु व्याहा, चाहा
बजारा था—गुह्य रात्रि जीवन का प्रेमी फ्रेंच मैन सा।

वह फिर तब से कभी नहीं लौटा अपने घर।
कई दिनों तक उसकी रही प्रतीक्षा सबको,
इधर उधर खोजा भी—कहीं न दिया दिखाई।
सारा घर सूना हो गया बिना राजू के।

बड़ा बुरा लगता अब ऐसे क्रीड़ा कुशल
सुघर जीवन साथी को खोकर। अब भी मुझको
छोटा कभी दिखाई देता वह उपवन में
स्मृति की आभा में बिम्बित हो।—मधुर स्वप्न सा
जहाँ जहाँ वह जाता छिपा रहता कुंजों में

वहाँ वहीं उसकी छाया अब भी मँडराती,
फूलों की ढेरी सुफेद।—जब कभी चरण ध्वनि
स्पष्ट सुनाई देती आँगन से आती सी,
द्वार खोल मैं उसे खोजता—रहा गूँजता
वह अदृश्य स्वर। पर वह छः वर्षों का साथी
त्याग राज चला सदा को गया स्वर्ग अब,
मुझे छोड़कर प्रिय स्मृतियों के कटक वन में।
अब न कभी लौटेगा मूक सुघर स्नेही यह।।

## सकट

ज्योति सूत्र सी कृश चेतना मनुज के भीतर,—
जिसे विरोधों के पर्वत का विकट सामना
करना पडता, इस विराट् जग में रहने को।
सहने पडते उसे कर आघात अनेकों
जो पग पग मुह बाए देते उसे चुनौती।—
अधकार को खाना गढ नियति आत्मा की।

धीरज रखना ही विपत्ति मे मात्र महौषधि
जीवन की सब स्थितियों मे विद्रोह न सभव।
बाहर की विपदाएँ होती कभी न दुर्जय,
यदि अन स्थित हो चेतस, स्थिर निर्मल हो मति।
सकट सभी निवारण हो सकते यत्नों से
यदि तटस्थ रह, समझ सकें हम उनका कारण।

भीतर का सकट ही वास्तव मे सकट है,
विचलित हो यदि चित्त, त्रस्त उर, मति में हो भ्रम,
डिग जाए यदि आस्था, अपने प्रति हो सशय,
जीवन के प्रति रहे प्रेम उत्साह न मन में,—

ऐसी स्थिति मे ईश्वर ही रक्षा कर सकता,—
वह रक्षा करता भी है, यदि उसे पुकारें।

## मनोभाव

मैं बोए फूल किन्तु उग आए काँटे!
बीज ठीक थे, धरती भी अच्छी उर्वर थी,
पर अनजान अजान गलतियाँ ऐसी हुईं
जो निश्चेतन से उभर कर दूषित कर देतीं
धरा के पाले पोसे मंगल विधान को!

मैं अब क्या काँटे बोऊँ? तो क्या उनमें भी
फूलों की फसलें उग पाएँगी? नहीं, नहीं,—
मैं फूलों को ही बोऊँगा जग के मग में!—

फूलों से काँटे नहीं उगे! काँटों के भी
मूल रहे होंगे भू-रज में, जो फूलों से
पहिले उग आए, फूलों संग सींचे जाकर!
फूलों में भी काँटे होते, द्वंद्व जगत यह!

पर, मैं फूलों को ही बोऊँगा भू-उर में,
काँटों के बिरवों की जड़ें उखाड़ फेंक कर
फूलों के पाँवड़े बिछाऊँगा पलकों-से,
मानव भावी का पथ निष्कंटक हो जिससे,—

विचर सको तुम भू पर नव स्वप्नों के पग धर!

## प्यार

मुझसे चिढ़ते सुहृद्—लुटाता रहता हूँ मैं
भले बुरे पर प्यार! न मुझको बोध तनिक भी
भले बुरे का, पाप पुण्य का! मैं मन ही मन
विचलित हो उठता उनकी फटकारें सुन कर!

सोचा करता, क्या कीचड़ में प्यार फेंक कर
दुरुपयोग या अपचय करता मैं अनजाने
दिव्य प्रेम का? मुझको लगता मुक्त प्यार का
अमृत स्पर्श पा, कीचड़ अपना गंदापन
पहचान सकेगा, और याद बनने का यत्न
करेगा, निधि पा अतुल प्रेम की!
और प्रेम तो
अरूप है ही! वह पंकज जन, सदुपयोग कर
तुच्छ पंक का, नया मूल्य दे सकेगा उसे!

निश्चय, कभी अपव्यय होता नहीं प्रेम का,
वह अव्यय है, सदा लुटाने से बढ़ता है!

## सतुलन

> [illegible] गट । भीतर [illegible]
> [illegible] ी वगता [illegible] न्य में
> आस्था [illegible] प्रस्त प्रशान
> [illegible] गया हृदय [illegible] भय [illegible] म।

> अध [illegible] भाग रेंगता
> अतर म क्षण क्षण [illegible] [illegible]
> उगते पण म मणि—प्रशान
> उसका जाने क्या मा [illegible] भाना।

> नया वस्तु जान आज
> अनतरित हो रहा दृष्टि पथ पर
> जो वर्जित थी स्वीकृत वस्ता
> यता निरुप निद्रित [illegible] सुदर।

> मूल्य [illegible] निश्चित सत्यज्ञान [illegible],
> मूल्य हीनता ही अमूल्य धन,
> मुक्ति इसी म,—पाप पुण्य
> सापेक्ष—व्यथ सब नैतिक बधन।

नयी सभ्यता जन्म ले रही
आज धरा के जन प्रांगण में,
निरत माँद मे पशु
निर्द्वन्द्व विचरता जग जीवन कानन मे।

सामाजिकता मे क्या करना?
तुष्ट व्यक्ति स्वातन्त्र्य चाहिए,
अगर चाहना ही हो तो
अन्तश्चेतन गह्वर आप चाहिए।

अब सत्य सब मे है—
मन में तम को होना जीवन पावन,
आज एक नर, भोग त्याग में
पग पग पर चाहिए सन्तुलन।

सार्थकता

शिखर ज्वार सामूहिक जीवन का
उठता जग में पग—
मग्न शिखर पर से
गति लय में भरता नव चेतन स्वर।
पीला पतझर वन में भरता
रमा लगता सुंदर,
मानो रंग निज आदि रूप में
निश्चय पूर्ण दिगंबर।

सूना नीला गगन,
तारों में मिलता मन को सुख,
भाव बोध में भरे कला का
शोभा में गुंठित सुख।
गूँगा गहरा को भी गीत
सुनाता ध्वनि इंगित कर,
मन की अपलक आभा में
अक्षय शोभा चित्रित कर।

अहंकार का ममता मणि फण
अहि न करे उर दंशित,
सार्थकता मानव जीवन की
तुमको हो चिर अर्पित।

## निर्घोष

सृजन क्षण,
नव स्वर ध्वनियों में
गर्भित हो अब जन भू का मन,
नये बोध के अंकुर फूटें
जगें रुधिर में नव संवेदन!

युग समुद्र मंथन से निकला
कालकूट जो भीषण मादन—
उसकी भस्मि में हुआ [illegible]
सृजन अमृत से करता तर्पण!

स्नेह कृपण की
सुधा गरल की मिला
बना नव रस संजीवन,
मृत्यु मेघ की घुमड़-घुमड़ में
बरसाता जन-भू पर नव जीवन!

अन्तरात्मा में आज पराजित
असुर शक्तियाँ सत्य निश्चय,
दया क्षमा ही मानवीय बल—
मनुज मनुज के प्रति हो सहृदय!

युद्ध युद्ध से नही थमेंगे,
　　घणा न मानव जीवन दशन,
हिसा देगी शाति न जग को—
　　प्रेम स्पश ही भरता उर-व्रण।

सत की रा समद्धि—असत का
　　गह निमम युग-भग्न पद लाछन,
मत सगठ शक्ति सामूहिक
　　युग पथ सकट करे निवारण।

## पुरस्कार

पुरस्कार भगवान् दिलाए नहीं किसी को!
मित्र शत्रु हो जाते इसमें! और प्रशंसक
कटु आलोचक बन, कृतित्व के साथ आपके
लघु चरित्र को बना दूषणों का पहाड़ पृथु
आत्म तुष्टि पाते हैं, तिल का ताड़ गढ़ा कर!

पृष्ठ भूमि गढ़ नयी आपकी छिद्र भरी
दुर्बलताओं की, राग द्वेष की! भले बाँट दें
आप उसे (वह बँट भी गया, सभी जानेंगे)!
पर स्पर्धा आक्रोश कभी मिट सकता इससे!

मुझे चुनौती मिलती "वे भी चाहें तो सब
पुरस्कार पदवियाँ स्वयं भी हथिया सकते—
किंतु खुशामद करना उन्हें पसंद नहीं है!
पुरस्कार का दुरुपयोग भर खलता उनको—
कौन न्याय कर सकता, कौन बड़ा सजग है?
पुरस्कार पा क्या लेखक महान् हो जाता?"

मैं उनका अनुमोदन करता—पुरस्कार से
लेखक कभी महान् नहीं हो सकता निश्चित,
पर कृतित्व ही शाश्वत कीर्ति स्तंभ स्रष्टा का!
पुरस्कार से इनको भी भगवान् बचाए
इनको भी सुनना न पड़े यह सब औरों से!

## मायाजाल

मेरे अपने बीच
खोखली झूठा का तुम
जाल तानती रही प्रतिक्षण,
लुप्त हो रहा अब
वह शोभा का सम्मोहन
क्षीण तुम्हारे प्रति
आकर्षण।

क्षण भंगुर सुख
सम्भव अनजाने ही तुम भी
हो जाओ अंतर में ओझल,
उठ जाए सहसा सुख से
माया का झीना अंचल।

व्यर्थ सभी हो झूठे छलबल
बिना भय के
रहे न आस्था का भी संबल।

## पूर्ण बोध

मैंने अपनी
क्षुद्र चेतना का लघु आँगन
झाड़-पोंछ कर दिया स्वच्छतर,
गत स्मृतियों के ढूह मिटा कर,
जीर्ण शीर्ण को
जीवन दे फिर नूतन।

अब वह दिग् दर्पण सा विस्तृत,
निखिल विश्व
जिसमें प्रतिबिम्बित।

आँगन नहीं, खेत वह उर्वर,
घास पात तृण छील
बीन खर कंटक दुष्कर,—

नव शोभा के शस्य
वहाँ मैंने रोपे स्मित,—
स्वर्णिम लपटें फूट रहीं
जिनमें सौंदर्य प्ररोहित।

खेत नहीं, वह बीज भी स्वयं,
उच्च प्राण अँकुओं में पुलकित
नव चैतन्य क्षेत्र कर विकसित—

नव भावों बौरों की
मंजरियों में अब वह मुकुलित,—
प्रेम, तुम्हारे प्रति चिर अर्पित,
लोक भावना रंजित,
शत सुरभित।

## अविच्छिन्न

क्यों हँसते रहते फूल सदा
कोई रहस्य क्या उन्हें ज्ञात?
चुप्पी साधे आकाश,
उसे कहनी वह कैसी गूढ़ बात?

चंचल फिरता वातास
समा पाती न हृदय में भार गंध,
गाता सरिता जल बह कल कल
पथ तिरना बिना तरी अनंत।

जलता रहता पावक अहरह
जो लगी दीप्त उर में निक्षेप,
पर्वत अंत केंद्रित
नीरव स्वर में देते गोपन संदेश।

मैं भी संयुक्त निखिल जग से,
अज्ञात रूप से आत्मिक

## कर्तव्य

जीना अपने ही में
एक महान् कर्म है,
जीने का हो सदुपयोग
यह मनुज धर्म है।

अपने ही में रहना
एक प्रबुद्ध कला है,
जग के संग रहने में
सब का सहज भला है।

स्त्री का प्यार मिले
जन्म के पुण्य चाहिए,
नव जीवन को
प्रेम सिन्धु में डूबा चाहिए।

ज्ञानी बन कर
मत नीरस उपदेश दीजिए,
लोक-कर्म भव-सत्य,
प्रथम सत्कर्म कीजिए।

## मनोव्यथा

दुखी रहना म मन ही मन!
ऐसी भारत भू में जन्मा
जहा अतल दारिद्रय सिन्धु में
डूबा जन का जीवन!
जहा व्यथ रे आत्मबोध
व्यथ ही ऊध्व आरोहण!

लहरा से उठ कर
असख्य कर मुझे बुलाते,
गजन भरते उदर
न दाना पानी पाते!
फेनो - से सकल्प
तटा से टकराते,
खिसियाते!

मजर क्या करे?
शाति ज्वार में
उमड शुद्र जन
लाँघ रुद्ध जीवन तट
मन की सीमा हुला न पाते!

पद मद कामी बौने नेता
विश्व त्रासदी के अभिनेता! —
अब भी नहीं लोक मन चेता! —
मूल्यों के विप्लव में
कवि हो
संस्कृति बोहित कैसे खेता?

चिन्तातुर रहता मेरा मन
ऐसे युग में जन्मा हूँ मैं—

जन भू पर छाया जब विघटन
ह्रास, ध्वंस, भौतिक संघर्षण,
राजनीति की प्याली में जब
डूब रहे आदर्श चिरंतन!

भोगवाद के पीछे पागल
जब चरित्र से हीन सभ्य जन!

सोच सोच कहता मेरा मन,—

व्यर्थ सैन्य, शस्त्रास्त्र, बाहु बल,
राष्ट्रों की कटु स्पर्धा निष्फल,—
महाशान्ति का युग वहिरंतर,

धैर्य चाहिए,
दृष्टि, मनोबल!

आन्दोलित चेतना - सिंधु,
चाहिए वात वेग
अमित सबल!

## प्रतिक्रिया

लो, स्वतंत्र अब देश!—
युगों का क्षुद्र दमित मन
बाहर उमड़ रहा अब प्रतिक्षण,
करता कटु आलोचन,
प्रत्यालोचन!

हीन भावना ग्रस्त
द्वेष से दग्ध
असंस्कृत लेखन
वमन कर रहा अब सँड़ाँध
निज अवचेतन की गोपन!—
बुद्धि हीनता का कर नग्न प्रदर्शन,
प्रतिभा शिखरों का कर
नित अवमूल्यन!

छिद्रान्वेषी मूषक
छिपे अट्टालों के अब बिलों में
बंद किलों में—

संग्रह किए तुच्छ उच्छिष्ट
जगत जीवन का,
कुंठित मन का
अपनेपन का!

वे कुछ गाली बकते
जिसे नहीं लिख पाते—
घृणा उगल जो लिखते
उससे नहीं अघाते!

वेदों ने, तुलसी युग ने
दादुर वटु-ध्वनि कर
अब न मधुर रव भर
मन के कानों में गाते!—

अहंकार की घन वर्षा में
पेट फुला गज दभी मेंढक
दर्प मुखर
कर्कश स्वर में टर्राते!

क्षुद्र नदी नाले
टेढ़ी मेढ़ी गति में बह
युग के कूड़े कचरे में
भर भर इतराते!

कला बोध, युग सत्य निखिल
दुर्गंध से भरे
यौन भावना की घाटी में गिर
खो जाते!

मेरी आस्था
अपने पर हो उठती दुस्तर,
और आत्मविश्वास प्रखरतर,
लक्ष्यभ्रष्ट उन धनुधरों के
जा कुंठित शर!

निश्चय, प्रतिभा का विद्युत कण
मेरे भीतर होगा मणिफण,
जिसके स्पर्श मात्र से दंशित
विचलित हो उठते
प्रतिस्पर्धी खा व्रण!

आत्म विजित
शत जिह्वाओं से
कटुता का विष करते वपन!

## वियतनाम

शूरवीरता के अप्रतिम निदर्शन निश्चय,
पौरुष तेज प्रतीक, धन्य तुम वियतनाम जन।
निज स्वतन्त्रता की वेदी पर हँस हँसकर तुम
करते सब आबालवृद्ध निर्भीक समर्पण।

जूझे आक्रामक से ले लोहा प्रतिक्षण
अडिग वज्र सदृश शक्ति से प्रेरित होकर
तुमने, जन स्वातन्त्र्य चेतना के संरक्षक,
रौंद दिया साम्राज्यवाद का रण मद दुस्तर।

ठहर न सकता अत्याचारी सत्य युद्ध में
जन भू का इतिहास युगों से इसका दर्पण,
सत्य जयी होता, अजेय जन शक्ति स्रोत जो
जन मन प्राणों में भरता रह जीवन नूतन।

अग्नि शिखा सी तेजस्विनी स्त्रियाँ वीरों का
मान बढ़ा रहीं—विद्युत असि सी बढ़ बाहर,
रुधिर स्नात हुआ उनसे, जन भू पथ पावन,
चंडी फिर असुरों की बलि लेती भर खप्पर।

प्राणों से भी प्रिय स्वतंत्रता वियतनाम रण—
हो ची मिन्ह प्रेरणा भर गए शोणित कण में—
मृत्युंजय संदेश समर में बन उर-संबल
प्रति हृत्स्पंदन के संग गाता जन गण मन में।

भू इतिहास नये युग में करता प्रवेश जब
ओ अजेय नर सिंह, तुम्हीं उसके निर्माता,
अघ शक्ति की धारा मिल गई तुम्हें वरण कर,
रक्त पूत भव मृत्यु क्षेत्र, कृतकाम विधाता।

जीवन के साधारण सत्यों को अतिक्रम कर
महाध्वंस के क्षण में जन मन हो अतिचेतन,
महानाश के चरण तोड़ नव सृजन कर रहा,
वितरित जग में अमृत, घट में कर रिपु धारण।

## लेनिन के प्रति

एक शती के बाद आज भी लगता मन को
महापुरुष अवतरित हुए तुम लोक धरा पर,
जन गण की दारिद्र्य दुःख दासता निशा की
कर निरंकुश युग युग की बेड़ियाँ तोड़ने।

रुद्ध प्रगति, स्तंभित थे युग इतिहास के चरण
प्रस्तर युग की रूढ़ि रीतियों में पथराए,—
आंदोलित कर लोक चेतना सागर तुमने
मज्जित की गत सीमाएँ जन-शक्ति ज्वार में।

दिग्व्यापी भूकंप सदृश तुम विचरे भू पर
छिन्न भिन्न कर जीर्ण आततायी जग-बंधन—
नया मोड़ दे यंत्र सभ्यता को जन युग की।

शतियों से पद दलित क्षुधित, शापित असंख्य जन
वर्ग सभ्यता के खँडहर में जगकर सहसा
जीवन-मुक्त लगे बढ़ने पा नया दिशा पथ
नव आशाकांक्षाओं के स्वप्नों से प्रेरित।

रक्तोज्ज्वल मानव गरिमा के नये सूर्य से
उदित हुए तुम विश्व क्षितिज पर महिमा मंडित,
जन भू के कोने-कोने का अंधकार हर
दिव्य प्रसन्न जीवन प्रभात भर जन प्रांगण में।

धन्य महामानव, भू पर चरितार्थ कर गए
वैज्ञानिक युग का तुम—निखिल शक्ति का संचय,
यंत्रों की संपद वितरित कर जन मंगल हित।

नवोन्मेष उर में, नयनों में सृजन स्वप्न नव,
अगणित कर-पद सामूहिक श्रम बल उन्मेषित
बढ़ते जन संस्कृति का नव प्रासाद सँजोने।

देख रहा मैं अनतिदूर, भावी आँगन में
धरा-स्वर्ग कल्पना शनैः साकार हो रही—
भू मानवता निकट आ रही अधिक तुम्हारे।

लोक क्रांति के दूत, जानता सूक्ष्म दृष्टि से
तुम गांधी एक ही सत्य के शुभ्र संस्करण,—
देह प्राण मन के मानव को उपकृत करने
आए तुम, जन-भू कृतार्थ अब बहिः संगठित।

मनुज हृदय को उन्नत करने आए गांधी
आत्मा का दे सौम्य स्पर्श अंतर्मुख मन को—
तुम से लेकर महत् साध्य, गांधी से साधन
निखिल विश्व जीवन संयोजित हो जन भू पर
बहिरंतर वैभव प्रतिनिधि बन (आज विपक्षी
सत्य शक्ति शिविरों में खंडित!) मनुष्यत्व का
हृदय सत्य-स्पंदित हो निर्मम यांत्रिकता से
लौह अस्थिपंजर में जकड़ा जय-श्रम से!
मानवीय गौरव हो प्राप्त नगन जीवन को!

महाध्वंस की आशंका से मुक्त धरा जन
विश्व शांति के सित सहस्रदल पर दिग् विस्तृत
लोक साम्य संग विश्व ऐक्य को करें प्रतिष्ठित—
मनुज प्रेम के आलिंगन में बाँध धरा को!
तुम्हें नमन करता नत, लेनिन, भारत का कवि—
आविर्भाव तुम्हारा था अनिवार्य जगत् हित!

## राजकमल द्वारा प्रकाशित पंतजी की अन्य कृतियां

| | |
|---|---|
| लोकायतन (संक्षिप्त) | ८ ०० |
| लोकायतन | २५ ०० |
| *अभिषविता | ३ ०० |
| चिदम्बरा | १५ ०० |
| रश्मिबंध | २ ५० |
| प्रतिमा | ४ ०० |
| स्वर्णधूलि | ५ ०० |
| कला और बूढ़ा चांद | ६ ५० |
| युगवाणी | ४ ०० |
| पल्लव | ६ ०० |
| पल्लविनी | ११ ०० |
| शिल्पी | ४ ०० |
| पौ फटने के पहिले | ८ ०० |
| किरण वीणा | ८ ०० |
| *पुरुषोत्तम राम | ३ ५० |
| पुरुषोत्तम राम (पेपरबैक) | ३ ०० |
| *संयोजिता | १० ०० |
| *साठ वर्ष एक रेखांकन | ३ ०० |

*तारांकित पुस्तकें अनुपलब्ध हैं।